विवेक-ज्योति

• हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

वर्ष : १८
अंक : ३

प्रति अंक १॥)
वार्षिक शुल्क ५)

विवेक - ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई - अगस्त - सितम्बर

★ १९८० ★

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ५)

एक प्रति १।।)

आजीवन सदस्यता शुल्क - १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर - ४९२००१ (म० प्र०)

दूरभाष : २४५८९

'विवेक–ज्योति' के ग्राहकों से सविनय निवेदन

महानुभाव,

हमने बहुत वर्षों तक 'विवेक-ज्योति' के वार्षिक शुल्क को यथावत् रखने की कोशिश की। जहां सभी पत्र-पत्रिकाओं का चन्दा दुगुना-तिगुना हो गया, वहाँ हम आपको इस पत्रिका को ५) वार्षिक शुल्क में ही देते रहे। पर अब उसके वार्षिक शुल्क को बिना बढ़ाये काम नहीं चलेगा। इस वर्ष 'विवेक–ज्योति' के खाते में १३,०००) का घाटा आया है। जो कागज हम ३५) प्रति रीम खरीदते थे, आज उसका दाम है ९५)। छपाई व्यय भी २।। गुना हो गया है।

ऐसी दशा में हमें बाध्य होकर 'विवेक–ज्योति' का वार्षिक शुल्क बढ़ाकर ८) करना पड़ रहा है, तथा एक अंक की कीमत २ रुपये २५ पैसे रखनी पड़ रही है। यह बढ़ा हुआ शुल्क १ जनवरी १९८१ से लागू होगा।

विश्वास है हमारे सहृदय पाठक एवं अभिकर्ता हमारी विवशता को समझ हमें पूर्व की ही भाँति अपना उदार सहयोग प्रदान करते रहेंगे। जिन सदस्यों का १९८१ के लिए आंशिक अग्रिम शुल्क जमा है (१९८० के एक अंक का १)२५ की दर से भेजे गए अंकों का मूल्य लगाकर बकाया १९८१ के लिए अग्रिम जमा) उनसे भी अनुरोध है कि १९८१ का बकाया शुल्क इस वर्ष के अन्तिम अंक के साथ संलग्न मनीआर्डर फार्म प्राप्त होने पर कृपया भेज देवें।

निवेदक,

स्वामी आत्मानन्द

प्रकाशक

अनुक्रमणिका

-:०:-

कवर चित्र परिचय : स्वामी विवेकानन्द

भारत सरकार द्वारा रियायती मूल्य पर प्राप्त कराये गये कागज पर मुद्रित ।

मुद्रण स्थल : रायपुर प्रिन्टर्स, श्याम टाकीज के पास, रायपुर

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण–विवेकानन्द–भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १८) जुलाई–अगस्त–सितम्बर (अंक ३

★ १९८० ★

ब्रह्मवेत्ता की स्थिति

क्वचिन्मूढो विद्वान् क्वचिदपि महाराजविभवः
क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदजगराचारकलितः ।
क्वचित् पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदित-
श्चरत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः ॥

——ब्रह्मवेत्ता महापुरुष कभी मूढ़, कभी विद्वान् और कभी राजा-महाराजाओं के-से ठाट से युक्त दिखायी देता है। वह कभी भ्रान्त, कभी शान्त और कभी अजगर के समान निश्चल भाव से पड़ा दीख पडता है। इस प्रकार निरन्तर परमानन्द में मग्न हुआ विद्वान कभी सम्मानित, कभी अपमानित और कभी अज्ञात रहकर अलक्षित गति से विचरता है ।

——विवेकचूडामणि, ५४३

अग्नि-मंत्र

(स्वामी त्रिगुणातीतानन्द को लिखित)

न्यूयार्क,

१४ अप्रैल, १८९६

कल्याणीय,

तुम्हारे पत्र से समाचार अवगत हुए। शरत् सकुशल पहुंच गया है, यह संवाद प्राप्त हुआ। तुम्हारा भेजा हुआ 'इंडियन मिरर' पत्र भी मिला। लेख उत्तम है बराबर लिखते रहो। दोष देखना सहज है, गुणों का अवलोकन करना ही महापुरुषों का धर्म है, इस बात को न भूलना। 'मूंग की दाल तैयार नहीं हुई है'— इसका तात्पर्य क्या है? भुनी हुई मूंग की दाल भेजने के लिए मैंने पहले ही मना कर दिया था, चने की दाल तथा कच्ची मूंग की दाल भेजने के लिए मैंने लिखा था। भुनी हुई मूंग की दाल यहाँ तक आने में खराब हो जाती है तथा उसका स्वाद भी नष्ट हो जाता है एवं पकती भी नहीं है। यदि अबकी बार भी भुनी हुई मूंग की दाल भेजी गई हो, तो उसे टेम्स नदी में बहाना पड़ेगा एवं तुम्हारा परिश्रम भी व्यर्थ होगा। मेरे पत्र को अच्छी तरह पढ़े बिना तुम मनमानी क्यों करते हो? पत्र खो जाने का कारण क्या है? पत्र का जवाब लिखते समय पत्र को (जिसका जवाब लिखना हो) सामने रखकर लिखना चाहिए। तुम लोगों में कुछ business (व्यावहारिक) बुद्धि की आवश्यकता है। जिन विषयों को मैं जानना चाहता हूँ, प्रायः उनका ही उत्तर नहीं मिलता है—केवल इधर-उधर की बातों का ही अधिक उल्लेख रहता है। . . .पत्र

कैसे खो जाते हैं ? उन्हें 'फाइल' क्यों नहीं किया जाता है ? सब कामों में ही बचपना ! मेरा पत्र क्या सबके समक्ष पढ़ा जाता है ? क्या जो कोई आते हैं, 'फाइल' से पत्र निकालकर भी पढ़ते हैं ? . . . तुम लोगों में कुछ व्यावहारिक ज्ञान की आवश्यकता है। अब तुम्हें संगठित होना चाहिए। तदर्थ पूर्णतया आज्ञा-पालन तथा श्रम-विभाजन आवश्यक है। मैं सब कुछ इंग्लैंड पहुँचकर लिख भेजूंगा। कल वहाँ के लिए रवाना हो रहा हूँ। मैं तुम लोगों को जैसा होना चाहिए, उस प्रकार बनाकर तुम लोगों द्वारा संगठित रूप से कार्य सम्पादन अवश्य कराऊँगा।

NP ...Friend (बन्धु) शब्द का प्रयोग सबके प्रति किया जा सकता है। अँग्रेजी भाषा में उस प्रकार की cringing politeness (चापलूस भद्रता) नहीं है, और ऐसे बँगला शब्दों का अंग्रेजी अनुवाद करना हास्यास्पद होता है। रामकृष्ण परमहंस ईश्वर हैं, भगवान् हैं—क्या इस प्रकार की बातें यहाँ चल सकती हैं ?

सबके हृदय में बलपूर्वक उस प्रकार की भावना को बद्धमूल कर देने का झुकाव 'म' में विद्यमान है। किन्तु इससे हम लोग एक क्षुद्र सम्प्रदाय के रूप में परिणत हो जाएंगे। तुम लोग इस प्रकार के प्रयत्न से सदा दूर रहना। यदि लोग भगवद्बुद्धि से उनकी पूजा करें, तो कोई हानि नहीं है। उनको न तो प्रोत्साहित करना और न निरुत्साहित। साधारण लोग तो सर्वदा 'व्यक्ति' ही चाहेंगे, उच्च श्रेणी के लोग 'सिद्धान्तों' को ग्रहण करेंगे। हमें दोनों ही चाहिए, किन्तु सिद्धान्त ही सार्वभौम हैं, व्यक्ति नहीं। इसलिए उनके द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों को ही दृढ़ता के साथ पकड़े रहो, लोगों को उनके व्यक्तित्व के बारे में अपनी अपनी

धारणा के अनुसार सोचने दो। ...सब तरह के विवाद, विद्वेष तथा पक्षपात की निवृत्ति हो; इनके रहने से सब कुछ नष्ट हो जायगा। 'जो सबसे प्रथम है, उसका स्थान अन्त में और जो अन्त में है, वह प्रथम होगा।'

मद्भक्तानाञ्च ये भक्तास्ते मे भक्ततमा मता:

(मेरे भक्तों के जो भक्त हैं, वे ही मेरे श्रेष्ठ भक्त हैं)।

इति।

विवेकानन्द

●

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

कंस के कारागार में वसुदेव-देवकी के पुत्र-रूप में भगवान् ने जन्म लिया। उनकी अंग-कान्ति से अँधेरा कारागार आलोकित हो उठा, शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी ज्योतिर्मय भुवनमोहन रूप के दर्शन कर माता-पिता के ज्ञानचक्षु खुल गये। वे दिव्यचक्षुओं से समस्त जगत् के अधिष्ठान उन परात्पर शुद्धब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव कर हर्षित चित्त से उनकी स्तुति करने लगे। जिनके संकल्प मात्र से निखिल विश्व की सृष्टि और स्थिति होती है तथा उसका प्रलय होता है, उन्हीं अहेतुक कृपामय सर्वविघ्नविनाशक अभयदाता को सामने देख देवकी परम आनन्दित हो, प्रेम-पुलकित नयनों से अश्रुधारा प्रवाहित करने लगीं। लीलामय प्रभु मुहूर्त में ही नवजात शिशु के रूप में रोने लगे और देवकी सब कुछ भूल सन्तान को वक्ष से चिपका स्तनपान कराने लगीं। जननी शिशु-सन्तान को स्तनपान करा रही हैं और उसके प्राण भय से कम्पित हैं कि कहीं बाद में बच्चे का रुदन सुन पहरेदार लोग दुष्ट कंस को खबर न कर दें और वह नृशंस उसी क्षण आकर उन लोगों के प्राणधन को मार न डाले! माँ के प्राण आतंकित हैं कि किस प्रकार अपने इस असहाय बच्चे की रक्षा की जाय।

इसी प्रकार योगीन-माँ, गोलाप-माँ आदि जो श्री माँ की अन्तरंग, एकान्त आश्रित भक्त थीं, उनकी ऐसी ही अवस्था थी। माँ की निर्विकल्प समाधि, देहात्मबुद्धि का विलोप, भावातीत भाव में अवस्थिति, इन्द्रियातीत भूमि

से उतरने के बाद स्वयं को पंचभौतिक देह को न ढूंढ़ पाने की स्थिति, उच्च भावभूमि में रहते समय दिव्य प्रकाश में देह-मन का परिवर्तन, अलौकिक रूप और भावविकास, जगज्जननी का शरणागत सन्तान को स्नेहामृत पान करा प्राण सुशीतल करना, मन के समस्त संशयों को दूर करनेवाली वेदवाणी सुना अभय-प्रदान करना--यह सब देख-सुनकर समय समय पर वे लोग विस्मित, स्तम्भित, अत्यन्त पुलकित और आनन्दित होते और दूसरी ओर माँ की बीमारी की खबर सुन, उनके खाने-रहने की असुविधा तथा अस्वस्थता और शारीरिक दुःख-कष्टों को देख अत्यन्त आशंकित, उत्कण्ठित और दुःखित भी होते, छटपटाते। तब उनका मातृ-हृदय माँ-रूपी बेटी के दुःख के लिए तड़पने लगता। वात्सल्य प्रेम का यही धर्म है--बड़े को छोटा करके देखना। उच्चकोटि के भक्त रागानुराग मार्ग में अग्रसर हो जिस उज्ज्वल अपार्थिव भगवदानन्द का रसास्वादन करते हैं, उसमें सुख-दुःख दोनों ही अतिशय तीव्र और तीक्ष्ण हो परस्पर की पुष्टि करते हैं। प्रेमाभक्ति कैसी है?--'तप्त इक्षु चर्वण, मुख ज्वले ना जाय त्यजन'--गरम गन्ने को चबाने के समान है, मुख तो जला जा रहा है, पर छोड़ा भी नहीं जाता। अन्तरात्मा में भगवान् का स्फुरण और अनुभव ही अप्राकृत सुख-दुःख अथवा दुःख-सुख का मुख्य विषय-आश्रय या आश्रय-विषय है, इसलिए इस दुःख के भीतर भी आनन्दरस ही प्रवाहित होता रहता है तथा प्रेमिक भक्त के हृदय में मधुर-वात्सल्यादि भावों का आश्रय लेते हुए इस रसास्वादन के पाने की स्पृहा ही दिखती है। विरह में, अदर्शन में, दैहिक क्लेशादि दिखने में रस की स्फूर्ति अधिक होती है। 'बाहिरे विषज्वाला हय, अन्तरे आनन्दमय।'

रोग-शोक में माँ का बालिकाभाव अधिकतर प्रकाश में आता। सभी मनुष्यों में अस्वस्थता के समय, दुःख-कष्ट पड़ने पर, कातर हो दूसरों की सेवा पाने की इच्छा होती है, भीतर नरमाई आ जाती है। किन्तु माँ के अन्तर में नम्रता का प्रकाश सदा दीखने पर भी उसमें दुर्बलता या कादरता नहीं दिखायी पड़ती थी। वह शिशु के स्वाभाविक अधिकार और स्नेह के हठ की भाँति वैसा ही अतीव सहज, सरल और सुन्दर प्रतीत होता, जैसे कोमल हृदयवाली छोटी बालिका अपने माता-पिता की स्नेह-ममता का आस्वादन करती है। उस बार माँ की अस्वस्थता बहुत कुछ दूर हो गयी थी, ज्वर मिट गया था, तब भी वे बहुत दुर्बल थीं—बिस्तर पर पड़ी थीं। कोआलपाड़ा के केदार की माँ प्रायः ही आकर देख जातीं और खोज-खबर लेती रहतीं। केदार की माँ श्री माँ को साक्षात् जगदम्बा-ज्ञान से देखतीं, उनके प्रति वे पूर्णतः समर्पित थीं, प्राणपण से उनकी सेवा आदि करतीं, किन्तु अपार श्रद्धा-भक्ति के साथ ही उनके अन्तर में श्री माँ के लिए अतुलनीय वात्सल्य-रस भी मिश्रित रहता। वृद्धा इतनी दूर पैदल चल माँ के दर्शन करने आतीं और बेटी का स्वास्थ्य कैसा है, कोई असुविधा या कष्ट तो नहीं है, उसकी विशेष प्रकार से खोज-खबर ले, अपनी आँखों से सब देखकर लौटतीं। कोआल-पाड़ा से ही बाजार-हाट का सामान लाया जाता, वृद्धा सब पूछकर रखतीं, देख-सुनकर व्यवस्था कर देतीं। माँ की कठिन बीमारी देख वे बड़ी उद्विग्न थीं, अब कुछ अच्छी होते देख वे कुछ तसल्ली पा रही थीं। वे आते ही बिछौने पर बगल में बैठ जातीं और पैरों पर, शरीर पर हाथ फिराते हुए स्नेह-ममता से बातें करतीं— क्या खाना अच्छा

लगता है, क्या खाना अच्छा है, यही सब बहुत सी बातें करतीं। अभी आकर बेटी को कुछ अच्छा देख मन थोड़ा प्रफुल्लित हो उठा, पर खाने में कोई रुचि नहीं है यह जान मन चिन्तित हो उठा। सेवक-सेविकाओं को कई प्रकार की हिदायतें दे माँ के कानों में चुपचुप बोल गयीं कि वे अच्छी चीज तैयार कर देंगी, वह खूब स्वादिष्ट है, खाने से रुचि पैदा हो जाएगी। केदार की माँ अनुभवी गृहिणी हैं, कितना क्या जानती हैं, तब के जमाने की तजुर्बेकार महिला हैं।

माँ की अस्वस्थता के समय एक शिष्य रोज रात में सोने के पहले और सुबह उठने के बाद माँ के कमरे में जाकर पूछताछ करता कि माँ कैसी हैं। माँ के कमरे में नीचे जमीन पर सेविकाएँ सोती थीं। एक दिन सुबह जाकर माँ का कुशलक्षेम पूछने पर माँ बोलीं, "बेटा, अच्छी हूँ। थोड़ी भूख लग रही है।" छोटी सी बच्ची की चाह, मानो हठ करने जैसी बात है। शिष्य सोच रहा है कि क्या दे! पूजनीय शरत् महाराज, योगीन-माँ, गोलाप-माँ, डाक्टर, सेवक-सेविकाएँ सभी हैं, खाने की कितनी चीजें हैं। सन्तान को लगा कि उन लोगों से पूछकर ही कुछ देना ठीक होगा। इतने में माँ ने मन्द मन्द हँसते हुए पास में ही कमरे में चटाई पर लेटी एक सेविका से चुपके चुपके कुछ कहा और सेविका उसी क्षण उठकर एक दोने में थोड़ी सी सत्तू के समान कोई चीज ले आयी और उसे सन्तान के हाथ में दे दिया। माँ ने सन्तान की तरफ देख आग्रह से कहा, "खिला दो।" सन्तान किंकर्तव्यविमूढ़ है, दोना हाथ में ले समझ नहीं पा रहा है कि उसमें क्या चीज है, वह उसने कभी देखी न थी। क्या करे, मां के शरीर की तो ऐसी अवस्था है! कलकत्ता से डाक्टर दवाई आदि लेकर आये हैं, शरत् महाराज स्वयं आये

हुए हैं, उन सबसे पूछे बिना क्या यह खिलाना अच्छा होगा? पूछने का समय भी नहीं है, उपाय भी नहीं है। माँ बालिका-जैसी भूख से आकुल हैं, अधीर हो खिलाने के लिए मुंह बढ़ाकर हठ कर रही हैं। नहीं, और ठहरने का समय नहीं! रोगी को कई दिनों से इसी प्रकार खिलाने के लिए ही तो यत्न किया जा रहा है-- आज स्वयं खाने की इच्छुक है। माँ का ही मन में स्मरण कर और उनका आश्रय ले शिष्य बिछौने पर ही बैठ गया और थोड़ा थोड़ा करके वही खाने की चीज माँ के मुंह में देने लगा। खाकर माँ के मुख पर और नेत्रों में बालिका के समान तृप्ति का भाव और आनन्द फूट पड़ा, देखकर सन्तान को भी बहुत आनन्द हुआ। बीच बीच में दो-एक विनोद की बातें कर खाना शेष होने पर पानी पीकर माँ ने परम तृप्ति व्यक्त की। सन्तान ने माँ का मुख पोंछवा दिया और उनके पहने हुए कपड़े व्यवस्थित कर उन्हें चादर ओढ़ा बिदा ली। सेविका से उसे पता चला कि सत् के समान उस चीज का नाम है 'मयना कोटा'। केदार की माँ अपने हाथ से बनाकर चुपचाप छिपाकर दे गयी थीं कि माँ सुबह सुबह थोड़ा थोड़ा करके खाएँगी तो मुंह में स्वाद आएगा और देह में खून और ताकत बढ़ेगी। उसे तुरन्त की भुनी हुई लाई को पीसकर बनाते हैं। उसमें से जो मुरमुरे के समान छोटी और टुकड़ों वाली खील होती है, उसे चुनकर निकाल लेते हैं। शेष के साथ साफ किया और भुना हुआ तिल मिलाकर महीन कूट लेते हैं, फिर थोड़ी मिर्च और नमक मिला देते हैं। माँ खूब मुखरोचक, हल्का और सुस्वादु भोजन पसन्द करतीं। किसी को न बताते हुए सन्तान ने माँ को इसी प्रकार कई दिन सुबह सुबह 'मयना कोटा' खिलाया था। इससे माँ को कोई नुक-

सान नहीं हुआ, बल्कि लाभ ही हुआ। यह जानकर सन्तान के आनन्द की सीमा न रही और माँ ने भी बालिका के समान हर्ष के साथ उसके हाथों से वह ग्रहण कर उसके अन्तर में नूतन स्नेह की अमिट छबि अंकित कर दी। वात्सल्य से उच्छ्वसित उस स्नेहमूर्ति को, उन नेत्रों और मुख-मण्डल को क्या कोई भूल सकता है ?

कोआलपाड़ा के श्री जगदम्बा आश्रम में माँ के मलेरिया से ज्वराक्रान्त होने की खबर पा एक शिष्य उनके दर्शन करने गया। माँ सोयी हुई हैं, ज्वर है। सन्तान ने बिछौने के पास खड़े होकर पूछा -- "कैसी हो, माँ ?" माँ ने छोटी बच्ची के-से कातर स्वर में उत्तर दिया, "बेटा, अच्छी नहीं हूँ, तेज बुखार है, शरीर में बड़ी जलन है, हाथ लगाकर देखो तो।" सन्तान ने नाना कारणों से देव-शरीर को स्पर्श करने में सकुचाते हुए नाम मात्र को थोड़ा सा हाथ लगाया। बालिका के समान मान करते हुए रुँआसे स्वर में विषण्ण मुख से माँ बोल उठीं, "यह क्या! अच्छी तरह देखो।" सन्तान समझ गया कि माँ का मन उस समय छोटी बालिका के समान है, इसलिए संकोच छोड़ पास में बैठ अच्छी तरह देह पर हाथ फिराते हुए देखने लगा, और दिलासा और सान्त्वना की एक-दो बातें समझाते हुए कहने लगा, "कोई चिन्ता नहीं, मां, बीमारी जल्दी दूर हो जाएगी," इत्यादि। मां मन में भरोसा पा प्रफुल्लित हो गयीं, और उसने भी आश्वस्त अनुभव किया।

बीमारी के अतिरिक्त अन्य समय भी माँ में कभी कभी यह बालिकाभाव प्रकट होते देखा जाता। मायावती से भक्तिमती भोटिया बालिकाओं द्वारा भेजे गये आसन की बात पहले ही कही जा चुकी है। आसन देख माँ का मन

प्रफुल्लित हो उठा था। उन्होंने हिमालय की उन पहाड़ी लड़कियों के कसीदा-कार्य की तथा उनके भक्तिभाव की बड़ी प्रशंसा की थी। वे उसी आसन पर बैठ पूजा करतीं। एक दिन सुबह एक भक्त ने देखा कि माँ अत्यन्त विमर्षभाव से गाल पर हाथ दिये बैठी हुई हैं—अत्यन्त सोच में पड़ी हैं। पास में ही एक हँसिया पड़ा है और उसके दोनों तरफ दो आसन पड़े हैं। सन्तान को देखते ही माँ कातरभाव से बोल उठीं, "बेटा, देखो तो मैं क्या कर बैठी !" हाथ से पड़े हुए दोनों आसन को उठा, दिखाते हुए अफसोस करती हुई बोलीं, "उन पहाड़ी लड़कियों का दिया सुन्दर आसन खूब बड़ा था, बिछाने से कमरे की बहुत सी जगह घिर जाती थी, बैठने के लिए उतने बड़े आसन की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। दुहरा करके देखा—भीतर से मोड़ने पर इसकी सुन्दर कसीदाकारी नहीं दिखायी पड़ती, फिर बाहर से कड़ा भी है, बैठने में असुविधा होती है। बाहर से मोड़ने में आधी कसीदाकारी दिखती तो है, पर आधी मिट्टी में लग खराब होती है। फिर मोड़ने पर बहुत ऊँचा और मोटा भी हो जाता है, देखने और बैठने में ठीक नहीं लगता। इसलिए सोचा कि दो भाग कर देने से छोटा भी हो जायगा, और दो जन बैठ भी सकेंगे। इसीलिए हँसिया लेकर दो टुकड़े कर दिये, पर सीधा समान नहीं कटा, दोनों ही एक तरफ चौड़े और दूसरी तरफ सँकरे हो गये हैं। यह मैंने क्या कर दिया यह सोचकर मन में बड़ा दुःख हो रहा है। सरला थी, कहने से ही वह सुन्दर एक-सा काट देती। मैंने यह कैसा गलत काम कर डाला, जो देखेगा वही हँसेगा !" निर्बोध बालिका के समान माँ को एकदम बुद्धू-जैसी बन अफसोस करते देख सन्तान ने दोनों टुकड़े हाथ में उठा अच्छी तरह देखा

और सान्त्वना देते तथा उत्साह बँधाते हुए कहा, "दो होने से तो अच्छा ही हुआ, माँ, बहुत काम आएगा। थोड़ा टेढ़ा जरूर हो गया है, फिर भी काट-छाँटकर अच्छी तरह किनारा मोड़ देने से बन जायगा। कुछ भी नुकसान नहीं हुआ है, कोई चिन्ता नहीं, अभी सरला दीदी को बुलाकर ठीक करा देता हूँ।" सरला दीदी के आने पर माँ ने आसन के टुकड़े दिखाकर कहा, "देख तो बेटी, मैंने क्या कर दिया है। अब थोड़ा ठीक कर दे, जिससे लोग न हँसे।" उन्होंने भी दिलासा दे माँ को शान्त किया और आसन के दोनों टुकड़े ले चौड़ी तरफ थोड़ा छांटकर साड़ी की किनारी लगाकर सिलाई कर दी। सुन्दर दो आसन बन गये। आकर माँ को दिया। देखकर माँ का चित्त प्रफुल्लित हो उठा, हर्ष से भरकर सन्तान को प्रेम से बुलाकर दिखाया। "देखो बेटा, सरला ने कितना सुन्दर बना दिया है। अब अच्छा काम में आएगा।"

संसार में सभी लोग इस प्रकार की भूल-त्रुटि करते हैं, नासमझ के समान बहुत से कार्य कर डालते हैं, बाद में अफसोस भी करते हैं—यह सामान्य बात है। फिर अवतार-लीला में इस सबकी क्या सार्थकता है? मनुष्य के बुद्धि-विचार के परे जो विषय है, उसी का सन्धान देने के लिए तो भगवान् का आविर्भाव है। इसलिए ये सब सामान्य लोक-व्यवहार बहुत से लोगों को अनावश्यक लगते हैं। ऊपरी दृष्टि से इस प्रकार निरर्थक लगने पर भी भक्त हृदय में इस सबका प्रभाव और आकर्षण बहुत अधिक होता है। भक्त हृदय में रस-स्फुरण और ममत्व-बोध के उद्दीपन के लिए ही भगवान मनुष्य होकर आते हैं। भगवान् को अपने ही समान पा उनके प्रति गहरा अपनत्व-बोध पैदा होता है और धीरे धीरे उनसे दूरी तथा पृथकत्व का भाव कम होने लगता है

और एक दिन उनके साथ एकत्व की अनुभूति भी हो जाती है। दैनन्दिन व्यवहार में प्राकृत मनुष्य के समान नरलीला से ही अवतार-लीला का माधुर्य सबसे अधिक प्रकट होता है। ज्ञानस्वरूप की अज्ञता, पूर्णानन्द का दुःख, भूमा की छोटी छोटी अभिलाषाएँ, भय हरनेवाले का भय—यह सब देखकर ही उनके प्रति ममत्व-बोध बढ़ता है, तब हृदय विगलित हो उनके चरणों में मिल जाता है। ऐसे हृदय को फिर क्या कठिन संसार में लौटाकर ले जाना सम्भव है ? लौटाना चाहने पर भी वह नहीं लौटता। "वास में क्या काम, वास में क्या काम, मेरा गृहवास में क्या काम ! वह जिसके हृदय में वास करे, क्या वह आवास में रह सकता है ?"

सभी माताएँ अपनी सन्तान की नटखटता और खिलवाड़ को अनिमेष नेत्रों से देखती हैं और देख हृदय में पुलकित होती हैं। इसीलिए माँ यशोदा की भाँति भगवान् को दुलारे के रूप में अपने शिशु का ही अनुकरण करते देख माताओं का हृदय उल्लसित हो उठता है, अतृप्त नयनों से उनकी लीला की क्रीड़ाएँ देख देख वे और अधिक पुलकित होती हैं। शंख-चक्र-गदा पद्मधारी गीतागायक श्रीकृष्ण की अपेक्षा माताओं को वह नन्दनन्दन अच्छा लगता है, जो दही की मटकियां फोड़ता है, माखन चोरी करके खाता है, कोई पकड़ना चाहे तो दौड़कर दूर भाग जाता है। भक्त के निकट शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी रूप की अपेक्षा कष्ट में प्रकट हुए, नन्द का पीढ़ा वहन करनेवाले बालरूप के सौन्दर्य का माधुर्य कितना अधिक है ! लक्ष्मीजी द्वारा पद-सेवित शेषशायी नारायण मूर्ति की अपेक्षा 'ठुमकि चलत रामचन्द्र बाजत पैंजनिया' कौसल्यानन्दन का यह रूप कहीं अधिक चित्ताकर्षक है। यशोदा अपने बेटे के अलौकिक

ऐश्वर्य को बार बार भले ही देखती रहें, पर गोपाल जब 'माँ' कहकर पुकारेगा, तब क्या उन्हें वह सब याद रहेगा ? कौसल्या ने कितना सुना था कि राक्षसकुल का नाश कर पृथ्वी का भार हरण करने के लिए भगवान् ने रामचन्द्र के रूप में जन्म ग्रहण किया है, पर जब वे राम को गोद में ले उसका मुख चूमने लगतीं, तब वह सब क्या उनके मन में आता था ?

शीतकाल का अपराह्न है। माँ भोजन के बाद लेटी विश्राम कर रही हैं। बाहर कमरे में दवाखाने में एक भक्त काम कर रहा है। हठात् समाचार आया-- 'माँ के पेट में पीड़ा है, बहुत कष्ट हो रहा है।' जल्दी से छुट्टी पा भक्त माँ के बिछौने के पास उपस्थित हो पूछने लगा, "किस प्रकार की पीड़ा है, कब से है, क्यों हुई, कहाँ पर दर्द है", इत्यादि। होमियोपैथी की दवा दी जायगी। माँ के कातर स्वर में उत्तर देने पर भक्त ने जल्दी जा दवा लाकर खिला दी। किन्तु उससे माँ का मन नहीं भरा। कातर स्वर से कहने लगीं, "बेटा ! बहुत दर्द है, खूब कष्ट हो रहा है, पेट पर जरा हाथ तो फिरा दो।" माँ ने आग्रह किया है। अब क्या उपाय है ? माँ खाट पर दीवाल के उलटी ओर करवट लिये रजाई के अन्दर लेटी हैं। हाथ-पाँव मोड़कर गठरी जैसी बन गयी हैं। भक्त सोचने लगा, खाट के नीचे बैठ पेट पर हाथ फिराने में सुविधा नहीं होगी। माँ के बिछौने पर बैठना क्या ठीक होगा ! क्या किया जाय ! माँ छटपटा रही हैं, बड़ा कष्ट है, भीषण पीड़ा हो रही है। पहले के एक दिन की बात भक्त को याद आ रही है। माँ के कमरे में जल्दी जल्दी बैठने जाकर वह पास में रखे एक आसन को फैलाकर बैठने ही वाला था कि माँ ने अत्यन्त भयभीत हो कहा था, "उसे रख दो, बेटे ! उस पर मैं बैठती हूँ। यह देखो आसन है, इस पर बैठो।"

और ऐसा कह माँ ने उसे दूसरे आसन पर बैठाला। गुरु के आसन पर बैठना महान् अपराध है, बाद में शिष्य का अकल्याण होता है। इसलिए माँ को भय हुआ था। तो, आज क्या किया जाय ? आज यह सब सोचने का समय नहीं है। अन्य कोई उपाय भी नहीं दिखता। इसलिए भक्त बिछौने पर ही बैठ हाथ फिराने लगा। बीच बीच में एक-दो सान्त्वना की बातें भी वह कर रहा है। देखते देखते पीड़ा कुछ कम हुई -- बालिका का मुख प्रसन्न हुआ और उसने शान्ति की साँस ली। इसके बाद 'हाट वाटर बैग' (गरम पानी की थैली) से सक देने पर धीरे धीरे वेदना बहुत कुछ दूर हो गयी। तत्पश्चात् माँ को थोड़ी नींद आ रही है यह देख वह चुपचाप धीरे से वहाँ से हट गया। माँ को सुख से सोते देख आश्रम में सब आश्वस्त हुए। गृहस्थ लोग जानते हैं कि छोटे शिशु के पेट में अचानक पीड़ा उठने पर घर में कैसी मुसीबत खड़ी हो जाती है। घर में जितने लोग रहते हैं, सभी घबड़ा जाते हैं कि कैसे बच्चे को आराम पहुँचाया जाए। सबकी वही एक चेष्टा होती है। माँ भी बीमारी के समय ऐसे ही शिशु के समान हो जाती थीं।

कई छोटी छोटी बातों में भी माँ का इस प्रकार बालिकाभाव देख अत्यन्त आश्चर्य होता, बड़ा कौतूहल भी होता। एक दिन एक भक्त एक घड़ा दूध ले बड़े विषण्ण मन से माँ के पास आया। माँ के निकट डरते डरते दूध का घड़ा उतारकर रखते हुए वह कातर स्वर में बोला कि शुद्ध दूध पाने के लिए उसके एक मित्र ने अधिक दाम देकर एक नीची जाति के व्यक्ति के यहाँ से यह इकट्ठा किया है। किन्तु आते आते नजर पड़ी कि दूध में एक छोटी सी सूखी हुई मछली पड़ी है। देखते ही मानो सिर पर वज्राघात हो गया,

इच्छा हुई कि दूध फेंक दूं, पर बहुत सोच-विचारकर ले आया हूँ कि माँ जैसा आदेश देंगी, किया जायगा— फेंकने को कहेंगी तो फेंक दूंगा और रखने को कहेंगी तो रख लिया जाएगा। उसके मित्र की बड़ी हार्दिक इच्छा थी कि शुद्ध दूध से ठाकुरजी के लिए पायस का भोग राँधा जाय। माँ भी उसे थोड़ा ग्रहण करतीं। पर हाय! सारी साध पर पानी फिर गया! सुनकर माँ भी दुःखी हुई, विषण्ण भाव से बोलीं, "बेटा! फेंकना नहीं होगा, छोटे छोटे बच्चे हैं, वे लोग तो पी सकते हैं।" ठाकुरजी के भोग में नहीं लगेगा, और लड़का कितना कष्ट उठाकर इतनी दूर से लाया है, यही विचार माँ के मन में बार बार उठने लगा। वे घर में सबकी राय पूछने लगीं कि दूध का पायस बनाकर ठाकुरजी को भोग लगाया जा सकता है या नहीं। छोटी नासमझ बच्ची के समान मां इसको, उसको, राधू को, यहाँ तक कि अपनी नौकरानी तक को पूछ रही हैं, विषण्ण मुख से पूछ रही हैं, "अच्छा री, यह दूध क्या ठाकुरजी को देना नहीं चलेगा?" कोई कोई गम्भीर भाव से कहने लगीं, "ऐसा कैसे होगा? दूध के अन्दर मछली जो मिली है, वह दूध तो भोग के अनुपयुक्त हो गया है।" माँ बहुत दुःखित हो उदास भाव से बैठी हैं। ऐसे समय उनकी अभिभावक, मानो घर की स्वामिनी नलिनी दीदी बाहर से आकर घर में घुसीं। उनके प्रविष्ट होते ही माँ ने उनसे अपने दुःख की बात कही और दूध के सम्बन्ध में पूछा। नलिनी दीदी सब बातें सुन अपनी आवाज तेजकर, हाथ नचाकर अपने अभिभावकपने को अच्छी तरह उजागर करते हुए बोलीं, "बुआ, उसमें दूध का क्या हुआ? पता नहीं किसान के यहाँ कहाँ से एक छोटी सी सूखी मछली पड़ गयी, उसको भी निकालकर फेंक दिया गया है। उससे

दूध का क्या बिगड़ा ? ठाकुरजी को चढ़ाते क्यों नहीं बनेगा ? खूब बनेगा। कलकत्ता के ग्वाले लोग दूध में पता नहीं क्या क्या मिलाते हैं, कोई उसकी खोज करता है ? उसी दूध की तो सब मिठाइयाँ बनती हैं, पायस होता है, ठाकुर-देवता को सब भोग लगाते हैं ?" "नलिनी ठीक कह रही है, कलकत्ता के दूध के सम्बन्ध में क्या कभी कोई इतना सोचता है ! उसमें कितना क्या नहीं मिलाते। वह जब ठाकुरजी को दे सकते हैं, तब यह दूध भी ठीक चलेगा । यह तो और भी अच्छा दूध है।" --नलिनी दीदी की युक्तिपूर्ण बात पर ऐसा कह माँ खूब खुश और निश्चिन्त हो ठाकुरजी के भोग के लिए पायस की व्यवस्था करने लगीं। सन्तान द्वारा इतने कष्ट से लाये गये दूध का पायस बना, ठाकुरजी को निवेदित कर, वह प्रसाद अपने हाथों से परोसते हुए माँ के हृदय में आज खुशी समा नहीं रही है। सचमुच ही वे बालिका के समान उल्लसित हैं, बार बार आग्रह करके परोसकर खिला रही हैं।

(क्रमशः)

●

"अगर मन एकाग्र न हो, तो भी मंत्रजप नहीं छोड़ना चाहिए। अपना काम-काज करो। निरन्तर जप करते रहने से मन निवात-निष्कम्प दिये की लौ के समान हो जाता है। हवा ही लौ को कम्पित करती है। इसी प्रकार हमारी वासनाए और इच्छाए मन को चंचल बनाती है।"

—श्री माँ सारदा

स्वामी विज्ञानानन्द

स्वामी ज्ञानात्मानन्द

श्रीमद्भागवत में (११/१८/२९) परम भक्त उद्धव के प्रश्न के उत्तर में भगवान् श्रीकृष्ण संन्यासी के लक्षण बताते हुए कहते हैं :—

बुधो बालकवत् क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद् विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥

वह महापण्डित होता हुआ भी बालक के समान क्रीड़ा करता है, सब विषयों में कुशल होता हुआ भी जड़ के समान बैठा रहता है, उसकी असम्बद्ध बातों को सुनकर लोग उसे पागल समझते हैं, वह वेदनिष्ठ होकर भी अनियत आचरण करता है।

यह अवश्य विविदिषु—तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक——संन्यासी के लिये प्रयोज्य नहीं है। जो लोग विद्वत् संन्यासी हैं अर्थात् जिन लोगों ने पहले ज्ञानलाभ कर बाद में संन्यास ग्रहण किया है, एकमात्र उन लोगों के लिए ही यह प्रयोज्य है।

स्वामी विज्ञानानन्दजी के पावन चरित्र में ऊपर बतलाये कई लक्षणों को देखकर हम लोग धन्य हुए थे। वे सचमुच ही महापण्डित थे, फिर भी बालक-सदृश व्यवहार करते थे।सब कामों में पारंगत होने पर भी कई बार जड़वत् बैठे रहते थे। उनके एक प्रकार से असंबद्ध कार्यों का अर्थ हम लोग कई बार नहीं समझ पाते थे। उनका बाह्य आचरण देख यह समझा नहीं जा सकता था कि उन्होंने सभी शास्त्रों का अध्ययन किया है।

उनके सेवक बताते कि उनकी विचित्र वेशभूषा देख कई बार इलाहाबाद में बच्चे लोग उनकी ओर ताकते रह जाते। यह देख वे उन लोगों से कौतुक करके कहते, "क्या देखता है– बन्दर ? हाँ– यह तो बन्दर ही है – रामजी का बन्दर !"

हम लोग देखते कि उनकी खाट पर सब समय बिछौना बिछा रहता। उस पर धूल-रेती पड़ने पर भी बिना उनकी अनुमति के किसी के लिये उसको स्पर्श करने का उपाय नहीं था। एक बार हमारे ही एक साधु कुछ दिन के लिये उनका संग-लाभ करने की इच्छा से इलाहाबाद गये और उनके बिछौने की वैसी दशा देख, महाराज की अनुपस्थिति में, उसको झाड़-पोंछकर साफ कर दिया। बाहर से लौटने पर महाराज ने बिछौने को उस प्रकार साफ-सुथरा देख फौरन उस साधु को बुलवाया और समय-सारणी (Time-Table) दिखाकर बोले– "देखिए. आपकी ट्रेन आज फलाने समय में है, आपको इसी ट्रेन से लौट जाना होगा।" साधु के बहुत अनुनय-विनय करने पर भी उनका वह आदेश नहीं टला।

उनकी इस खाट के थोड़ा ऊपर ही एक आले में श्री ठाकुर की तसवीर रहती। उसको भी बिना उनकी अनुमति के कोई छू नहीं सकता था।

गर्मी के दिनों में उनके लिये तीन बिस्तर लगाने पड़ते। एक बाहर खुले में, एक बरामदे में और एक कमरे के भीतर। पहले बाहर खुले में आकर सोते। आँधी चलने और वृष्टि होने पर भीतर बरामदे में आते ; आँधी-पानी के और तेज होने पर कमरे के भीतर सोते। तीनों में ही मच्छरदानी आदि लगी रहतीं, और पानी में भींगते रहने

पर भी उसको उठाने की किसी को अनुमति न थी ।

वे सब समय अकेले रहना ही पसन्द करते। बाहर के साधुओं की तो बात ही क्या, अपने ही संघ के साधुओं के दो-एक दिन के लिए आश्रम आने पर दो-एक दिन बाद ही समय-सारणी दिखलाकर आश्रम से जाने का आदेश देते ।

अस्वस्थ होने पर भी वे कोई दवा नहीं खाना चाहते और उनकी इस अस्वस्थता के बारे में मठ में यदि कोई खबर दे देता, तो वे अत्यन्त कुपित होते और उस सेवक को उसी समय आश्रम से चले जाने को कहते।

इस प्रकार का था उनका असाधारण और निराला आचरण ।

हम लोगों ने उनके प्रथम दर्शन किये थे सन् १९२१ में। तब वे स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) के मन्दिर-निर्माण के लिये बेलुड़ मठ आये थे। उसके कुछ दिन पूर्व स्वामीजी के मन्दिर की पूजा का भार मुझ पर आया था। तब सिर्फ स्वामीजी के मंदिर का नीचे का भाग (जिसमें स्वामीजी की मूर्ति है) भर था और उसके चारों तरफ खुला बरामदा था। पास में तब अन्य कोई मन्दि-रादि नहीं थे। मठवाले मकान के भाग को छोड़ उसके दक्षिण में, स्वामी जी के मन्दिर की तरफ भी, कोई पक्का बाँध नहीं था। ज्वार आने पर गंगा का जल प्रायः स्वामी जी के मन्दिर के पास तक आ जाता। निर्जन स्थान होने से हम लोग अधिकांश समय वहाँ जप-ध्यान में बिताते। बहुत कम लोग ही तब उस तरफ आते थे। इस मन्दिर के चारों तरफ यहाँ-वहाँ कुछ टूटी-फूटी ईंटें पड़ी हुई थीं। एक दिन एक विदेशी सज्जन (साहब) आये और

हम लोगों को देख अचानक पूछ बैठे – "तुम लोगों ने विवेकानन्द के मन्दिर को इस प्रकार बिना देखभाल के क्यों छोड़ रखा है ? हम लोग उनकी कितनी श्रद्धा करते हैं, जानते हो ? . . ." इत्यादि । हम लोग तब उनके प्रश्न का कोई ठीक ठीक उत्तर नहीं दे पाये । बाद में महापुरुष महाराज से पूछने पर उन्होंने बतलाया ,"क्यों, ऐसा क्यों नहीं कहा कि वह तो Under construction (निर्माणाधीन) है ?" उस समय हम लोग मठ के आफिस में भी कुछ कुछ काम करते थे । एक ब्रह्मचारीजी उसको देखते थे । उनके पास यह घटना बतलाने से उन्होंने भी कहा, "महापुरुष महाराज ने ठीक ही तो कहा है । इस मन्दिर के ऊपर शीघ्र ही दुमंजिला मन्दिर होगा। उसका नक्शा वगैरह भी तैयार है और पैसा आदि भी आ गया है । किन्तु उसको करने का भार विज्ञान महाराज पर है । वे इलाहाबाद में रहते हैं– वे मौजी महात्मा हैं । कब आकर प्रारम्भ करेंगे यह अभी तक ठीक नहीं ।"

इस प्रसंग में पूज्यपाद महाराज के सम्बन्ध में वे बहुत सी बातें हम लोगों को बताने लगे :–

"पहले विज्ञान महाराज उत्तर प्रदेश में Executive Engineer (कार्यपालन यंत्री) थे एवं स्वामीजी के जीवनकाल में ही उस महत्वपूर्ण पद को छोड़ आलमबाजार मठ में प्रविष्ठ हो गये थे और स्वामीजी के आदेश से स्वयं ही श्रीठाकुरजी के सामने विद्वत्-संन्यास ग्रहण किया था । इसके बाद बेलुड़ मठ की जमीन होने पर स्वामीजी के आदेश से उन्होंने यहाँ ठाकुरजी का मन्दिर (पुराना) और साधुओं के रहने के लिए मकान तथा उसके ऊपर दुमंजिले में स्वामीजी के रहने के लिये

भी कमरे का निर्माण करवाया था। गंगा पर बँधा घाट और सीढ़ियाँ भी उन्हीं के अथक परिश्रम से निर्मित हुई हैं। वे बहुत विद्वान् हैं, 'सूर्य-सिद्धान्त' नामक ज्योतिष शास्त्र के प्रामाणिक ग्रन्थ का उन्होंने अनुवाद किया है, पांडित्यपूर्ण और भी कुछ कुछ किताबें उन्होंने लिखी हैं।"

उन ब्रह्मचारीजी ने इस प्रसंग में महाराज की विचित्र वेशभूषा और आचरण के बारे में भी हम लोगों को कुछ बतलाया एवं उसके साथ ही उनको जो सब दिव्य-दर्शनादि हुए हैं, वह भी संक्षेप में सुनाया। इसलिए हम लोग उनके आने के कुछ समय पूर्व से ही उनके दर्शन के लिये बहुत उत्सुक हो उठे थे।

याद पड़ता है, उस समय फाल्गुन या चैत्र का महीना था। एक दिन देखा एक घोड़ागाड़ी में वे अचानक मठ के सामने मैदान में आकर उतरे। उनके इस आगमन की पूर्व सूचना किसी को पहले दी गयी थी या नहीं, पता नहीं। किन्तु उनके अकेले उतरने से अनुमान हुआ कि उनके आगमन की पूर्व सूचना मठ में नहीं मिली थी। पहले उनकी विचित्र पोशाक पर ही हम लोगों की दृष्टि पड़ी। सचमुच ही वह विचित्र थी। उनके सिर पर कानों को ढाँकती एक गरम टोपी थी, देह पर एक गरम कोट था, जो प्रायः घुटने तक लम्बा था एवं उसके दोनों तरफ बड़े बड़े जाने कितने सारे जेब थे, जिनमें बहुतेरी चीजें भरी जा सकती थीं। उसके नीचे थी एक छोटी पाँच हाथ की धोती, पैरों में दो जोड़ी मोजे एवं पम्प-शू जूते। इस वेश में ही वे गाड़ी से उतरे थे। किन्तु उतरते ही सीधे वे स्वामीजी के मन्दिर के सामने पहुँचे और पास में जिन्हें भी देखा (उनमें सम्भवतः स्वामी शंकरानन्द जी भी थे), उन्हों

से पूछा कि स्वामीजी के मन्दिर के लिए क्या क्या सामान इकट्ठा किया गया है। विशेष रूप से वह जानकारी लेकर तब वे मठ के भवन की ओर बढ़े। उनके लिए पहले से ही स्वामीजी के कमरे के बगल वाले छोटे कमरे में जिसे हम लोग 'खोका महाराज का कमरा' के नाम से जानते थे, रहने की व्यवस्था की गयी थी। ब्रह्मचारी बुद्ध चैतन्य (बाद में स्वामी भास्वरानन्द) उनके सेवक नियुक्त हुए। भोजन एवं विश्राम के बाद उन्होंने स्वामी शंकरानन्द जी आदि के साथ पुनः स्वामी जी के मन्दिर के सम्बन्ध में चर्चा की।

बहुत जल्दी ही निर्माण में लगनेवाले सामान जुटा लिये गये और उन्होंने भी निर्माण-कार्य आरम्भ कर दिया। तब उनकी उम्र पचास के ऊपर रही होगी, देह भी खूब स्थूल थी। किन्तु इतना होने पर भी उनको कैसा अक्लान्त परिश्रम करते देखा था। सुबह चाय और उसके साथ थोड़ा कुछ खाकर, कुली-मिस्त्रियों के काम पर आते ही वे ८ बजे कार्यस्थल में उपस्थित हो जाते और १ बजे तक, जब तक मिस्त्री और कुली लोग कार्य करते रहते, पास के देवदारु वृक्ष के नीचे खड़े रहते, अथवा कभी बैंच पर बैठकर सारे कार्य को बारीकी से देखते रहते। १ बजे सबका काम समाप्त होने पर वे आकर हाथ-मुँह धोते (स्नान वे बहुत कम ही करते थे) और दोपहर का भोजन कर सामान्य थोड़ा सा विश्राम लेते। फिर २ बजे काम आरम्भ होने पर वे वहाँ पहुँच जाते। उनको इस बुढ़ापे में भी इस प्रकार अक्लान्त परिश्रम करते देख हम लोग अपनी ओर ताककर लज्जा का बोध करते।

अपने मित्र स्वामी भास्वरानन्द से सुना था, इस

समय उनका आहार अत्यन्त साधारण था। सुबह कुछ कप बहुत कम दूध मिली चाय और दो एक प्रसादी सन्देश खाकर वे अपना काम देखने चले जाते। दोपहर में काम से लौटकर हाथ मुँह धो या स्नान कर थोड़ा ठाकुरजी का प्रसादादि लेते। शाम को उसी प्रकार चाय एवं रात्रि में वैसे ही ठाकुरजी का प्रसाद लेते।

कुछ दिन बाद श्रीमहाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) भुवनेश्वर मठ से बेलुड़ मठ आये। आते ही उन्होंने विज्ञान महाराज के खाने पीने की कुछ और अच्छी व्यवस्था करवायी और वे जो जो पसन्द करते थे, वह बाजार से लाकर उन्हें खिलाने की व्यवस्था की। वे बीच बीच में पूछताछ करते रहते कि उनका भोजन कैसा हुआ। विज्ञान महाराज भी छोटे बच्चे के समान अपने भोजन के सम्बन्ध में सब बेझिझक बतलाते। उस समय उन दोनों गुरु भाइयों के परस्पर स्नेह, प्रीति और श्रद्धादि को देखकर हम लोग मुग्ध हो जाते।

श्रीमहाराज इन दिनों खूब तड़के शय्या त्याग कर हाथ-मुँह धो गंगा की तरफवाले ऊपरी बरामदे में अपनी आरामकुर्सी पर भावस्थ होकर बैठे रहते। हम साधु-ब्रह्मचारी लोग एक एक करके उनको प्रणाम कर अपने अपने आसन पर बैठकर जप-ध्यान करते। उनके प्रायः सभी गुरुभाई भी जप-ध्यान शेष होने पर "सुप्रभात, सुप्रभात" कहते हुए भूमिष्ठ हो श्रीमहाराज को प्रणाम करते। सिर्फ महापुरुष महाराज उनसे उम्र में अधिक होने के कारण या अन्य किसी कारण से हाथ जोड़कर "महाराज, सुप्रभात, सुप्रभात" कहकर बारबार अभिवादन करते। श्रीमहाराज स्मित हास्य के साथ उन सबको

"सुप्रभात" और महापुरुष महाराज को "तारकदा, सुप्रभात" कहकर प्रत्यभिवादन करते। किन्तु हम लोग विज्ञान महाराज को देखते, वे केवल "सुप्रभात" कहकर या भूमिष्ठ प्रणाम करके शान्त न होते, अपितु रोज सुबह-शाम हम लोगों के सामने ही श्रीमहाराज को दण्डवत् प्रणाम करते और उनकी अनुमति मिलने पर ही अपने काम में जाते। श्रीमहाराज को इस समय कहते सुना था– "पेसन (हरिप्रसन्न महाराज अर्थात् विज्ञान महाराज) की भक्ति शशी महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्द) की भक्ति के बाद ही है।"

नित्य ही सान्ध्य-आरती के बाद हम लोग फिर से श्रीमहाराज के सामने इकट्ठे होते। मठ में उपस्थित श्री महाराज के सभी गुरुभाई और मठ के अन्यान्य वरिष्ठ साधुगण भी वहाँ हमारे साथ इकट्ठे होते। किसी किसी दिन श्रीमहाराज हम लोगों से कहते–

"तुम लोग चुपचाप क्यों बैठे हो? कुछ प्रश्न करो। पेसन से ही पूछो। तुम लोग नहीं जानते, पेसन गुप्त योगी है। तुम्हारे प्रश्नों का वही ठीक ठीक जवाब देगा।"

हम लोग बहुधा किसी प्रकार का कोई प्रश्न नहीं कर पाते थे। तब महाराज हम लोगों की तरफ से विज्ञान महाराज से कुछ कुछ पूछते और वे भी एकदम नादान बालक के समान हाथ जोड़कर श्रीमहाराज से कहते, "महाराज, मैं क्या जानूँ? मैं क्या जानूँ? आप ही इन सब प्रश्नों का उत्तर दें।"

पर तो भी महाराज छोड़ते नहीं थे। अन्त में विज्ञान महाराज को कुछ उत्तर देना ही पड़ता। इस प्रकार हम लोग उन्हें अत्यन्त विद्वान् होते हुए भी छोटे बालक -जैसा

व्यवहार करते देखते ।

श्रीमहाराज रोज ही उनके काम (स्वामीजी के मन्दिर) के सम्बन्ध में पूछताछ करते और कहीं पर कोई त्रुटि दिखने पर उनको बतला देते। विज्ञान महाराज उसे बड़े अचम्भे के साथ स्वीकार करते और बीच बीच में हम लोगों के सामने ही श्रीमहाराज से पूछते, "महाराज यह सब आपने कैसे जाना ?" महाराजजी भी इस पर हँसते हुए कहते "पेसन गुरुकृपा से सब आपसे आप आ जाता है।" यद्यपि महाराज पहले उच्चपदस्थ सरकारी इंजीनियर थे, फिर भी श्रीमहाराज की बात वे नतमस्तक हो स्वीकार कर लेते थे।

एक दिन की घटना है– उस दिन महान् ज्ञानी होने पर भी किस प्रकार उन्हें बालक-जैसा सरल व्यवहार करते देखा था, वही यहाँ बतला रहा हूँ। एक दिन पहले ही रात में कालीपूजा हुई थी, और उस दिन सन्ध्या विसर्जन होनेवाला था। विज्ञान महाराज अपने कमरे में बैठे थे। उनके साथ स्वामी कमलेश्वरानन्द (ललित महाराज) तथा और भी कुछ साधु लोग बैठे थे। कमलेश्वरानन्दजो शास्त्रज्ञ पंडित थे। उन्होंने कलकत्ता के भवानीपुर अंचल में 'गदाधर आश्रम' में वेद-विद्यालय स्थापित किया था और वेद-वेदान्त के ज्ञाता विभिन्न पंडितों के साथ वे यह विद्यालय चलते थे। हम लोगों ने विज्ञान महाराज के कमरे में प्रवेश करते समय सुना कि वे कमलेश्वरानन्द के साथ देवी-देवताओं के कई बीजमंत्रों की चर्चा कर रहे हैं और वे सब क्यों अलग अलग हैं उसको व्याख्या कर रहे हैं। जहाँ तक याद पड़ता है, वे ललित महाराज से पूछ रहे थे, "अच्छा, शिवजी के मंत्र के साथ 'ऐं' बीज क्यों

युक्त हुआ है, जानते हो ? 'ए' का अर्थ है अनन्त, उदार—आकाशवत्। शिव भी यही हैं, इसीलिए उनके मंत्र के साथ यह 'ऐं' बीज संयुक्त हुआ है।"

इस प्रकार बहुत सी चर्चा होने के बाद काली-पूजा के सम्बन्ध में बात उठी। हरिप्रसन्न महाराज बोले, "पूजा में 'आवाहन' का अर्थ और कुछ नहीं, बल्कि हमारे अन्दर जो कुलकुण्डलिनी शक्ति है, उसी का जागरण और बाद में उसी का हृदय-घट में स्थापन। इसके बाद पुजारी अपने शरीरादि को शुद्ध कर स्वयं देव या देवीस्वरूप बनकर उसी को फिर सामने के घट में स्थापित करता है, यह जो घट है, वह हमारे हृदय-घट का प्रतीक मात्र है। फिर पूजा के अन्त में उसको पुनः 'संहार-मुद्रा में' प्रतिमा से निकालकर पहले घट में स्थापित करना होता है, बाद में इस घट से उसको स्वस्थान यानी हृदय घट में प्रतिष्ठित करते हैं-इसी का नाम है 'विसर्जन'। विसर्जन अन्य कुछ भी नहीं हैं। हम लोग सर्वदा अपने भीतर —हृदय में उसके दर्शन नहीं कर पाते, इसीलिए हम लोगों को इस प्रकार से बाह्य प्रतीक का अवलम्बन लेकर उसकी पूजा करनी पड़ती है।"

उस दिन उनकी इस प्रकार गम्भीर पाण्डित्यपूर्ण तन्त्र और वेदान्त के अपूर्व समन्वय की बात सुन हम लोग बड़े ही मुग्ध हुए थे।

किन्तु सन्ध्या समय उनका दूसरा ही रूप देखा। सन्ध्या को विसर्जन का समय आने पर महामाया की प्रतिमा को पूजा-स्थान से उठाकर विसर्जन के लिये गंगा के घाट के पास ले जाया गया। संन्यासीगण माँ के सामने भजन-संगीत गाकर माँ को बिदाई गीत सुनाने लगे। श्री महाराज उस समय मठ में थे। वे और महापुरुष महाराज

कुछ लोगों के साथ नीचे गंगा की तरफ एक बेंच पर बैठकर संगीतादि सुन रहे थे तथा माँ के दर्शन कर रहे थे। इतने में विज्ञान महाराज वहाँ आ उपस्थित हुए। उनको देखते ही महाराज बोल उठे, "पेसन, माँ जा रही हैं, उनके कान में बोल आओ, कि 'माँ, तुम फिर से आना।"

सुनते ही विज्ञान महाराज, जिनके मुख से सुबह उस प्रकार वेदान्त और तन्त्र की अपूर्व व्याख्या सुनी थी उसी क्षण देवी की प्रतिमा के समीप गये और देवी के कान के निकट अपना मुँह रख कुछ बोलकर चले आये। लौटकर श्रीमहाराज से बोले, "महाराज, बोल दिया।" महाराज ने पूछा, "क्या बोले, पेसन?" तब विज्ञान महाराज छोटे बालक के समान कहने लगे, "बोला, 'माँ, तुम फिर से आना' !"

उनके एक और बालकवत् आचरण की बात का यहाँ उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा।

तब विज्ञान महाराज रात में अपना हाथ-मुँह धोने के लिए छत में प्रायः नहीं जाते थे। स्वामीजी के कमरे के बरामदे में खड़े हो प्रायः यहीं हाथ-मुँह धोते। एक भक्त की कृपा से हम लोगों के पास खाने की कुछ थालियाँ हो गयी थीं (इससे पहले शाल पत्ते में ही दोनों समय हम लोगों का भोजन होता)। हम लोग रोज खाने के बाद गंगाजी जाकर ये थालियाँ माँज-धोकर ले आते। रात में गंगाजी की तरफ सीढ़ियों से होकर जाने पर सीढ़ियों और आसपास की जगह में प्रायः ही मैला पानी देखने को मिलता। तब हम लोग आपस में यही बातें करते कि कौन इस प्रकार सीढ़ियों को गन्दा करता है।

एक दिन इसी प्रकार जब थाली माँजने के लिये

रात में हम लोग उतर रहे थे, तब ऐसा लगा कि ऊपर से ऐसा गंदा पानी पड़ रहा है। हम लोगों के साथ के एक साधु स्वामी ज्योतिर्मयानन्द (गोरा ज्योतिष) चिल्लाने लगे– "कौन पानी फेंक रहा है, कौन पानी फेंक रहा है ?" परन्तु किसी का कोई उत्तर न पा अपनी थाली हम लोगों के हाथ में दे वे उसी प्रकार चिल्लाते चिल्लाते ऊपर गये। किन्तु वहाँ किसी को न देख लौट आये ।

दूसरे दिन जब हम लोग पूजनीय विज्ञान महाराज को प्रणाम करने गये तब वे अपने दो बड़े बड़े नेत्र निकाल हमारी तरफ देख कहने लगे "कल क्या हुआ, जानते हो ?" हमने पूछा "क्या हुआ था महाराज?" इस पर आँखें और भी बड़ी बड़ी कर वे कहने लगे "सुना नहीं? देखो रोज ही तो रात में मैं यहां बरामदे में बैठकर हाथ-मुँह धोता हूँ। कल भी वही किया था। ऐसे समय में यह गोरा ज्योतिष (एक और ज्योतिष महाराज थे वे अपेक्षाकृत काले थे इसीलिये ज्योतिर्मयानन्द स्वामी को 'गोरा ज्योतिष' कहकर पुकारते थे) 'कौन पानी फेंक रहा है ? कौन पानी फेंक रहा है ?' चिल्लाते हुए ऊपर चढ़ने लगा। तब मैं जल्दी अपने कमरे में घुस गया और दरवाजा बन्द कर सो गया, सोचा, इतने झमेले में कौन पड़े ? और वह इस प्रकार किसी को न पा नीचे चला गया।" हम लोग बोले, "तो महाराज, आपने क्यों नहीं कह दिया कि मैं धो रहा हूँ ?" तब वे अपनी दोनों आँखें और बड़ी करके (मानो खूब भयभीत हो गये हों) बोलने लगे, "भाई, जानते नहीं, वह जिस प्रकार चिल्लाते हुए आया था, उससे तो लगता था वह मुझे निश्चय ही पीट देता ।"

उनका इस प्रकार बालकों का-सा भय देख हम

लोग मन ही मन हँसे और सोचने लगे— सच ही तो भगवान् श्रीकृष्ण ने जो कहा है कि 'बुधो बालकवत् क्रीडेत्' (विद्वान् बालकों के समान क्रीड़ा करता है), वह अक्षरशः सत्य है ।

श्री महाराज के प्रति उनकी जो अकृत्रिम श्रद्धा थी , उसका उल्लेख पहले ही हमने किया है । स्वामीजी (विवेकानन्द जी) को वे किस प्रकार देखते थे, यह एक दिन पूछने पर वे बोले, "बाप रे, उनके सामने कौन जायगा ? हम लोग दूर से ही उनको प्रणाम करते थे। आग के पास जाने से जैसे आँच लगती है, उनके पास जाने पर भी उसी प्रकार की आँच अनुभव करता था और जिस प्रकार तुम लोग महाराज को पीछे की ओर से आकर प्रणाम करते हो, उसी प्रकार मैं भी स्वामीजी को करता था। वे जब मठ में रहते, तब मठ के उस गेट (जहाँ सारदापीठ का पुराना शो-रूम था) से ही उनका पता चल जाता। पूरा मठ तब गमक उठता । और उनके उपस्थित न रहने से मठ का रूप अन्य होता ।"

अन्य एक दिन उनसे एक पुरानी घटना का उल्लेख कर कुछ प्रश्न करने पर स्वामीजी के साथ उनके सम्पर्क में जो मधुरता थी, उसका सम्यक -परिचय मिला था। मठ के घाट को बाँधने और सीढ़ी बनाने के लिए विज्ञान महाराज ने जो संभावित व्यय (Estimate) बतलाया था, उससे बहुत अधिक व्यय होने पर स्वामीजी ने श्रीमहाराज को खूब फटकारा था और श्रीमहाराज ने तब विज्ञान महाराज से कहा था "पेसन तुम्हारे लिये ही आज मुझको स्वामी जी से गाली खानी पड़ी।" इस सुनी घटना की सत्यता जानने के लिए हम लोगों ने जब विज्ञान

महाराज से पूछा "महाराज, इस प्रकार के संभावित व्यय का हिसाब तो पहले भी कई बार आपने बनाया होगा फिर इस बार कैसे भूल हो गयी।" (उन्होंने इसके लिये मात्र आठ सौ रुपये का खर्च बतलाया था। किन्तु जब स्वामी जी ने श्रीमहाराज से हिसाब पूछा तब तक उसके लिए पन्द्रह सौ रुपये खर्च हो चुके थे और वह कार्य भी लगभग आधा ही हुआ था।) इसके उत्तर में वे बोले, "जानते हो भाई, स्वामीजी को इस प्रकार कम खर्चवाला हिसाब न दिखाने से वे क्या कभी उस काम को हाथ में लेते?" इत्यादि।

याद पड़ता है, इसी के कुछ बाद फिर स्वामीजी को गाली खाने के भय से उन्होंने निश्चय किया कि कलकत्ता जाकर बलराम बाबू के यहाँ श्रीमहाराज के निकट कुछ दिन रहेंगे। उन्होंने स्वामीजी को अपने इस निश्चय के बारे में कुछ न बता एक चलती नौका को आवाज देकर बुलाया। वे जैसे ही उसमें चढ़ने लगे कि स्वामीजी ने ऊपर से देख लिया और जोरों से बुलाने लगे, "पेसन, जाओ नहीं, जाओ नहीं, तुम राजा (महाराज) के पास मत जाओ – राजा बहुत अच्छा आदमी नहीं है!" तदुपरान्त उन्होंने बताया– "मैं क्या और सुनता! झटपट नाव में चढ़ उसकी छतरी के नीचे बैठ गया।"

ऐसा था उनका परस्पर के प्रति भ्रातृसुलभ गहरा प्रेम और प्रीति-मधुर कलह।

वे कहा करते, "अभी भी स्वामीजी अपने उस कमरे में रहते हैं। भाई, उस कमरे के पास से मैं खूब सावधानी से जाता हूँ, जिससे उनके ध्यान में बाधा न पहुँचे। उनके जीवित रहते एक बार उनको इस कमरे में ध्यान करते

देखा था । उस समय उनकी देह-कान्ति से समस्त कमरे को आलोकित देख विस्मित हो उठा था । क्या वे साधारण मनुष्य थे !"

बेलुड़मठ के वर्तमान श्रीरामकृष्ण-मन्दिर के निर्माण के प्रसंग में पूजनीय विज्ञान महाराज ने हम लोगों को बतलाया था, "स्वामी जी ने हठात् एकदिन मुझको बुला भेजा और कहने लगे 'देख पेसन, ठाकुर के मन्दिर का एक नक्शा बनाना होगा । ठाकुर जैसे समस्त धर्मों के मूर्तिमान् विग्रह थे वैसे ही उनका मन्दिर भी सब देशों की– ग्रीक, रोमन soracenic (मुसलमान) और हिन्दू आदि– शिल्प-कलाओं का समवाय होगा । तुम इस प्रकार एक नक्शा बनाओ तो ।" इस प्रकार कहकर स्वामीजी उन सब देशों की विभिन्न शिल्पकलाओं के सम्बन्ध में बहुत सी बातें बतलाने लगे । उसका कितना क्या मैं समझ सका यह नहीं जानता फिर भी उनका आदेश पा जितना कुछ समझा था उसी के आधार पर कुछ दिन मेहनत करके उसी प्रकार का एक नक्शा तैयार कर स्वामीजी के पास ले गया । उन्होंने नक्शे पर नजर घुमाकर कहा 'अच्छा हुआ है' ।"

बेलुड़मठ में श्रीरामकृष्ण देव के वर्तमान मन्दिर के निर्माण के समय उसकी नींव के पत्थर को पूजनीय महापुरुष महाराज ने जहाँ पहले स्थापित किया था वहाँ से उठाकर विज्ञान महाराज ने जहाँ अभी मन्दिर है वहाँ जब पुनः स्थापित किया, तब सौभाग्य से हम लोग वहाँ उनके समीप ही उपस्थित थे । देखा कि वे ऊपर को ओर ताककर गद्गद स्वर में बोल रहे हैं :– "स्वामीजी, तुमने तो कहा था– 'जब ठाकुर के मन्दिर का

निर्माण होगा, पेसन, तब शायद मैं इस शरीर में नहीं रहूँगा, किन्तु ऊपर से मैं वह देखूँगा।' तो आज इसका भित्ति-स्थापन हो रहा है, स्वामीजी ऊपर से तुम वह देखो।'

ऐसा कह प्रतिष्ठा-कार्य शेष करने के बाद सजल नेत्र लिये अपने कमरे में जाकर उन्होंने द्वार बन्द कर लिये। इस घटना के कुछ दिन बाद हम लोगों ने उनसे पूछा था "महाराज क्या आपने सचमुच ही स्वामीजी के उस दिन दर्शन किये थे?" इसके उत्तर में उन्होंने कहा "हाँ भाई सिर्फ स्वामीजी क्यों, ठाकुर, माँ, श्रीमहाराज आदि भी उस दिन उपस्थित थे और आशीर्वाद देकर गये हैं। उनका आशीर्वाद लेकर ही तो कार्य प्रारम्भ किया है।"

उनके दिव्य दर्शनादि के सम्बन्ध में एक दिन उनसे पूछने पर उन्होंने बतलाया था, "हाँ भाई, हमको इस प्रकार कुछ कुछ हुआ है, किन्तु महाराज को तो और भी अधिक हुआ है।" ऐसा बोल वे कौतुक करते हुए कहने लगे, "पर बात क्या है, जानते हो? मेरा माथा कुछ गरम है, और महाराज का तो और भी अधिक है!"

इस प्रकार कौतुक कौतुक में ही उन्होंने गहरे तत्त्व की जाने कितनी बातें न सुनायी होंगी। जिन सब उपादानों से उनका पवित्र और उन्नत जीवन गठित हुआ था, वे सब अल्प-विस्तर मात्रा में उन सबके जीवन में भी प्रतिफलित हुए थे, जिनका जीवन उनके घनिष्ठ सान्निध्य-लाभ से धन्य हुआ था।

इस प्रसंग में उनके प्रधान सेवक बेनी के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक प्रतीत होता है। बेनी गरीब की सन्तान था, बचपन से ही पिता को खो बैठा था। गरीबी से त्रस्त हो बहुत छोटी उम्र में ही वह पूजनीय विज्ञान महाराज

के पास नौकरी करने के लिये आया था, किन्तु उन्होंने उसे नौकर जैसा नहीं रखा। शुरु से ही स्वयं की सन्तान जैसा स्नेह दे उन्होंने बेनी को अपने पास खींच लिया था। बेनी के न होने से उनका कोई भी काम पूरा नहीं होता था। कभी वे उसको खूब डाँटते और कभी 'बेनी बाबू' कहकर उससे पुत्रवत् स्नेह करते। उनके शरीर की सेवा करने का अधिकार बेनी को छोड़ और किसी को न था। जब वे बेलुड़ मठ में बहुत बीमार थे तब देखा था वे साधुओं द्वारा सेवा कराना पसन्द नहीं करते थे। तब उन्हीं के आदेश से तार देकर बेनी को इलाहाबाद से बुलाया गया था। बेनी द्वारा उनकी सेवा का सब भार लेने पर वे भी निश्चिन्त हुए थे।

जब वे समझ गये कि अब उनका शरीर अधिक दिन नहीं रहेगा, तब एक दिन बेनी को बुलाकर उन्होंने कहा, "बेनी, तेरे लिये मैं कुछ रुपये रख जाना चाहता हूँ, नहीं तो मेरे जाने के बाद तुझको अपने भरण पोषण के लिये कष्ट होगा।"

इस पर गरीब की सन्तान बेनी ने हाथ जोड़कर कहा, "महाराज, आपकी कृपा से मुझे सब कुछ मिल गया है (बेनी की उम्र उस समय ३४-३५ की होगी, उसने विवाह नहीं किया था)। मैं आपके पास और कुछ नहीं चाहता — बस, यही आशीर्वाद दीजिए, जिससे ठाकुर जी में मेरी अचला भक्ति हो।" इलाहाबाद आश्रमवासी-लोग बतलाते थे कि तब विज्ञान महाराज ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहा था, "बेनी, यदि कभी इन हाथों से ठाकुरजी की थोड़ी सी भी सेवा की हो, तो आशीर्वाद देता हूँ उनके चरणों में तेरी अचला भक्ति रहेगी।"

१६३८ साल के अप्रैल महीने में विज्ञान महाराज के देह त्याग के बाद इलाहाबाद आश्रम में जाने पर देखा था, बेनी के घर से बहुत से सगे सम्बन्धी लोग आये हुए हैं और उससे गाँव साथ चलने के लिये तथा विवाह करने के लिए बार बार आग्रह कर रहे हैं। हो सकता है वे लोग यह भी सोचते रहे हों कि चूँकि पूजनीय महाराज उस पर इस प्रकार निर्भर करते थे, इसलिये अवश्य ही वे उसे विशेष कुछ धन सम्पत्ति देकर गये हों, तथा उसकी इस प्रकार ऐकान्तिक सेवा आदि के लिए आश्रम से भी कुछ प्राप्त हो जाय। पर बेनी ने किसी की बात नहीं सुनी। उसने बस इतना कहा, "महाराज, मुझको यहाँ रख गये हैं, मैं यहीं पर अपनी अन्तिम साँस लूँगा।"

इसके प्रायः दो वर्ष बाद बेनी बहुत बीमार पड़ा। पूजनीय शंकरानन्द महाराज तब काशी सेवाश्रम में थे। वे बेनी से खूब स्नेह करते। वे इलाहाबाद आश्रम के अध्यक्ष को बेनी को काशी भेज देने के लिए बार बार लिखने लगे, क्योंकि काशी सेवाश्रम में उसकी सब प्रकार से चिकित्सा कराना सम्भव था। पर बेनी अपने संकल्प पर दृढ़ रहा। उसने केवल विनीत भाव से कहा, "महाराज, आश्रम में बहुत छुटपन से आ गया था, उनके स्नेह की छाया में ही बड़ा हुआ, आप दया करके इस आश्रम से दूर ले जाने की चेष्टा न करें। मैं यह आश्रम छोड़कर नहीं जाऊँगा।" शंकरानन्द महाराज ने यह जानकर स्वयं ही इलाहाबाद जाकर उसे साथ ले आने का विचार किया। बेनी ने जब सुना कि वे उसे लेने अमुख तारीख को इलाहाबाद आ रहे हैं, तो उसने उसी दिन पूरे होशो-हवाश के साथ देह त्याग दी।

इस प्रकार उपेक्षित लोहा भी पारस-मणि के संस्पर्श में आकर उज्जवल सोने में बदल गया था — साधुसंग की ऐसी ही महिमा है।

विज्ञान महाराज को श्रीठाकुर ने दो अमूल्य उपदेश दिये थे, जिनका वे अपनी उम्र भर अक्षरशः पालन करते रहे। उनमें प्रथम इस प्रकार था — "जब ध्यान करोगे, तो सब कुछ त्याग कर सर्वबन्धनों से मुक्त होकर करना।" इसीलिये हम लोग देखते, रात्रि-भोजन के बाद ही वे दरवाजा बन्द करके सो जाते। हम सोचते कि वैसी उनकी आदत है। तब हम लोग उनके कमरे के पास स्वामीजी के कमरेवाले बरामदे में सोते थे। उस समय अचानक कभी नींद टूटने पर देखता, वे सम्पूर्ण रूप से दिगम्बर होकर हम लोगों के पास से बरामदे में हाथ-मुँह धोने के लिये जा रहे हैं। उनकी इस प्रकार दिगम्बर अवस्था का रहस्य उस समय हम लोग नहीं समझ सके थे। बाद में सुना था, श्रीठाकुर के आदेश के अनुसार वे सर्वबन्धनशून्य हो लेटे लेटे भी उसी प्रकार ध्यान करते।

उनके प्रति श्रीठाकुर का दूसरा आदेश था— "अत्यन्त कुलीन स्त्री यदि भक्ति में लोटपोट भी हो, तब भी तुम उसकी तरफ कभी पलटकर मत देखना।" मठ के महाध्यक्ष होने के पूर्व तक वे इसका शब्दशः पालन करते रहे। इसके कुछ पहले जब वे महापुरुष महाराज के अन्तिम दर्शन करने के लिए आये थे, तब महापुरुष महाराज को बोलने में असमर्थ होते हुए भी बायाँ हाथ उठाकर सब पर कृपा करते और आशीर्वाद देते देख उनका पूर्व का मनोभाव एकदम बदल गया। वे कहते, "महापुरुष महाराज का यह उदार भाव तब मानो मेरे भीतर घुस

गया।" तब से वे स्त्री-पुरुष सभी को बिना किसी भेद के दीक्षा देते। इस विषय में, सम्भव है, ठाकुरजी का निर्देश भी उन्हें मिला हो। इसके पहले कोई भी स्त्री उनके इलाहाबाद आश्रम में प्रवेश नहीं कर सकती थीं। उनके एक गुरुभाई ने विनोद करते हुए कहा था कि मादा-मक्खी तक को भी विज्ञान महाराज के आश्रम में प्रवेश करने की हिम्मत नहीं है।

वे जब स्वामीजी के मन्दिर के निर्माण-कार्य को देख रेख कर रहे थे, उस समय हम लोग एक भक्तिमती महिला को उनके पास प्रणाम कराने के लिये ले गये थे। श्रीमहाराज उस महिला से बहुत स्नेह करते थे। महिला ने ज्योंही विज्ञान महाराज को प्रणाम किया कि वे पीछे की तरफ मुड़कर दूसरी तरफ चले गये। प्रणाम करने के बाद सिर उठाने पर महिला उनको ऐसा करते देख अत्यन्त चकित हो गयीं। हम लोग भी तब उसका कारण नहीं समझ पाये थे। बाद में यह जान पाये थे कि श्रीठाकुर के आदेश से ही वे ऐसा आचरण करते हैं।

इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और बालक के समान सरलता के साथ उनके आचरण में अपूर्व संयम, निष्ठा और ठाकुरजी के प्रति अविचल श्रद्धा देख हम लोग मुग्ध हो गये थे।

साधारण लोगों के साथ व्यवहार में वे हम लोगों की भाँति शिष्टाचार पर ध्यान नहीं देते थे। हो सकता है एक कमरे में वे लोगों के साथ बैठकर धार्मिक विषयों पर अनेक प्रकार की चर्चाएँ कर रहे हों, वे लोग उत्सुक हो सुन रहे हों इतने में सम्भव है उनका भाव (mood) बदल गया और वे उन लोगों की ओर ताककर कह

उठते – "अच्छा तो अब आप लोग चलिए" और यह कह उनके सामने ही दरवाजा बन्द कर लेते। इस प्रकार बालक -सदृश व्यवहार हम लोग उनके आचरण में प्रायः ही देखते जो हम लोगों के आचरण से सर्वथा भिन्न होता। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है – "बुधो बालकवत् . . ." इत्यादि ।

उनके संघ के महाध्यक्ष हो जाने पर भी हम लोगों ने उनका इस प्रकार का अद्भुत आचरण देखा था। भक्त लोग उनके लिए तरह तरह की मिठाई-द्रव्यादि लेकर आते। हम लोगों के प्रणाम करने जाने पर वे आनन्द से वह सब हम लोगों में बाँट देते। कभी बहुत सी मिठाई और पैसा आदि इकट्ठा हो जाने पर अपने सेवक से कहते, "वह और आज किसी को नहीं देना होगा। सब कुछ मेरे लिए रख दो।" दूसरे दिन शायद सभी कुछ नष्ट हो जाता और गंगाजी में बहा दिया जाता ।

उनके दीक्षा देना आरंभ करने पर भक्त लोग गुरुदक्षिणा में अनेक वस्त्रादि उनको देते। वे कभी कभी वह सब मठ में उपस्थित साधुओं में बाँट देते और कभी कहते "उनमें से एक भी किसी को नहीं देना होगा, मैं सब इलाहाबाद ले जाऊँगा।"

सेवक लोग यदि पूछते "वहां इतने सारे कपड़ लेकर क्या करेंगे ?" तो वे कहते "वह सब मेरे भण्डारे में लगेगा।" इस प्रकार एक बार दो बक्से में कपड़े भरकर वे इलाहाबाद ले गये थे। उसके कुछ दिन बाद उनका देहावसान होने पर वे कपड़े सचमुच उनके भण्डारे में काम आये थे और वहाँ उपस्थित साधुओं में वितरित किये गए थे ।

इस प्रकार का था उनका अद्भुत आचरण जो हम लोगों की नजरों में 'बालकवत्' 'उन्मादवत्' प्रतीत होता। श्रीमद्भागवत में परमहंस संन्यासियों के ऐसे विशेषणों का अर्थ हम लोग उनके दर्शन से समझकर धन्य हुए थे।

•

श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये

श्रीमती गोपीकुमारी बिड़ला

मनोजवं मारुततुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये ।।

श्री तुलसीदास जी श्री हनुमानजी को मन का प्रतीक बताते हैं। मन के तेज से, ओज से उनका जन्म होता है। जब मन जितेन्द्रिय बन जाता है, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अर्थात् विवेकयुक्त बुद्धिवाला बन जाता है, जब उसकी विवेकपूर्ण दृष्टि जागृत हो जाती है, उसी क्षण वह श्री रामचन्द्र का विश्वासपात्र तथा कृपापात्र बन जाता है। श्री हनुमानजी के ऊपर भगवान् श्रीराम का पूर्ण विश्वास था, क्योंकि वे पूर्ण ज्ञानी और वैराग्यवान् थे। यही कारण है कि भक्ति देवी की खोज में उन्हें ही भेजा गया। भगवान् स्वयं भक्ति की खोज में नहीं जाते हैं।

मन जब इतना दृढ़ ज्ञानी बन जाता है, वैरागी बन जाता है कि किसी भी प्रकार की सांसारिक प्रवृत्तियां—माया-मोह-कामनादि— निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर होने में बाधक सिद्ध नहीं होती, तब ही वह जीव भक्ति को प्राप्त करने का अधिकारी होता है। श्री जनकनन्दिनी स्वयं भक्ति की अवतार हैं, वे भक्ति-स्वरूपा आद्याशक्ति हैं। उन्हें रावणरूपी अहंकार ने स्वर्णमयी लंका में बन्दिनी बना रखा है। मानव-मन का अहंकार मन को भगवान् की ओर आगे बढ़ने में बाधाएँ उपस्थित करता है, परन्तु ऐसा प्रभावशाली मन, पवनवेग से अधिक गतिशील मन, द्रुतगति से जानेवाला मन, उस प्रवृत्तिरूपी रावण की लंका में

छोटा सा रूप धारण करके प्रवेश करता है। उसको भय है कि कहीं उस पर अहंकार की छाया न पड़ जाये। इसीलिए वह मशक के समान रूप धारण कर लंका में प्रवेश करता है। यह मन जब सांसारिक कामनाओं से विरक्त हो जाता है, तब उसे अपनी शक्ति, मति की कल्पना नहीं रहती। वैरागी होने के कारण बल, बुद्धि का विस्मरण हो जाता है, क्योंकि वह समद्रष्टा बन जाता है, परन्तु यदि उसे कोई याद दिला दे, तो वह अपने अन्तर्यामी का स्मरण कर अपनी बुद्धि अपने बल को याद कर लेता है। उसे अपने में विराजमान अन्तर्यामी की शक्ति और बुद्धि की याद आ जाती है और भगवत् - कृपा की सामर्थ्य की भी याद आ जाती है। अपनी सामर्थ्य का स्मरण होते ही वह मोहरूपी अगाध शतयोजन सागर को अनायास ही पार करके प्रवृत्ति रूपी लंका में प्रवेश करता है और वहाँ से भक्ति की खोज करके निवृत्ति -पथ पर अग्रसर होते हुए भगवत्-कृपा का पात्र बन जाता है, भक्ति देवी के आशीर्वाद से भगवत्-चरणारविन्दों को प्राप्त कर लेता है, उनकी अनपायिनी भक्ति प्राप्त कर धन्य हो जाता है।

लंका जाते समय उन्हें तीन प्रलोभनों का, बाधाओं का सामना करना पड़ता है। वे उन तीनों बाधारूप नारियों को तीन प्रकार से परास्त कर भक्ति के पास पहुँच ही जाते हैं। वे तीन बाधाएँ इस प्रकार हैं। सर्वप्रथम तो उन्हें सर्पों की माता सुरसा का सामना करना पड़ता है, जो लोकैषणा का स्वरूप है। मनुष्य जितना बड़ा होता जाता है, विख्यात होता जाता है, लोकैषणा उससे अपना रूप द्विगुणित करती जाती है। यदि इसका सामना ही मानव करता रहे, तो इसमें मन फँस जाता है और उसका कहीं

निस्तार नहीं होता। यह कालरूपी सर्पिणी मनुष्य को समाप्त ही कर देती है। जो छोटा बनना जानता है, जैसे कि श्री हनुमानजी में छोटे बनने की भी सामर्थ्य थी, तब काम बन जाता है। लोकैषणा के साथ साथ जो छोटा बनना, नम्र बनना जानता है, विजय का सेहरा उसी के सिर पर बँधता है। लोकैषणा रूपी सुरसा को नम्रता से छोटे होने के भाव से मात खानी पड़ती है। अतएव श्रीहनुमानजी एकदम छोटे बनकर नम्र बनकर सुरसा को नमन करके आगे बढ़ते हैं।

दूसरी बाधा सिंहिनी ने उपस्थित की। द्वेषरूपी सिंहिनी ज्ञानी मन पर भी अपना प्रभाव डालने से नहीं चूकती। उस द्वेषरूपी सिंहिनी को मारने की सामर्थ्य भी पवनसुत में थी। वे 'बुद्धिमतां वरिष्ठम्' थे, अतः द्वेषरूपी सिंहिनी को जड़मूल से समाप्त कर दिया। कहीं द्वेष की चिनगारी भी शेष रह जाये, तो अग्नि प्रज्वलित होने में विलम्ब नहीं लगेगा। सिंहिनी का काम छाया को पकड़कर नीचे गिराना है। यही द्वेष का भी स्वरूप है। द्वेषी जिसके प्रति द्वेष भाव रखता है, उसे नीचे ही गिराने की बात सोचता है। वह दूसरे को नीचे गिराकर ही ऊपर उठना चाहता है। अतः श्री हनुमानजी ने उसे जड़मूल से समाप्त कर दिया।

आगे चलकर देखा कि प्रवृत्ति के द्वार पर लंकिनी-रूपी कामना का पहरा है। यदि मानव-हृदय में कामना नहीं होगी, तो अच्छे बुरे सभी प्रकार के कार्य भी समाप्त हो जाएँगे। कामना ही कर्म की जननी है। "अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित्"। कामना चाहे प्रवृत्ति की हो अथवा निवृत्ति की, प्रत्येक के जीवन में रहती ही है

और रहना आवश्यक भी है। जब तक प्रवृत्ति का मार्ग नहीं देखा जाए, उस पथ पर नहीं चला जाए, तब तक निवृत्ति का मूल्यांकन करना भी असम्भव है। मानव-जीवन में यदि कोई ध्येय न हो, लक्ष्य न हो, तो मनुष्य निकम्मा बन जायगा। कर्म करने की यदि इच्छा भी नहीं होगी, तो वह प्रमादी बन जायगा। जब लक्ष्य प्राप्ति की इच्छा नहीं होगी, तब मनुष्य कर्म किसलिए करेगा? राक्षस से देवता, देवता से मानव, मानव से परमात्मा और परमात्मा से परब्रह्म बनने की कामना ही मानव-मन को गति देती है। उन्नत होने की कामना ही जीव को गतिशील बनाती है। इसीलिए श्रीहनुमानजी ने कामना को समाप्त नहीं किया, अपितु उसे हालबेहाल करके छोड़ दिया। उसे शिक्षा दी कि मानव-जीवन का लक्ष्य भक्ति, प्रेम और भगवान् को प्राप्त करना है, न कि उसमें बाधक बनना है। यही कारण है कि 'मानस' में श्री तुलसीदासजी ने लिखा है –"मुठिका एक महाकपि हनी रुधिर बमत धरनी ढनमनी" –अर्थात् हनुमानजी ने उसे परास्त कर दिया और तब प्रवृत्ति की नगरी में, मायारूपी सोने की लंका में प्रवेश किया।

पवनपुत्र का मन इतना राममय हो गया था कि वे मायानगरी लंका में भी सन्त की ही खोज करने लगे। राक्षसों की नगरी में भी सन्त निवास करते हैं। मानव चाहे जितने दुर्गुणों की खान हो, पर एक न एक सद्गुण तो उसमें रहता ही है। उसी सद्गुण के बल पर मनुष्य मनुष्यता को प्राप्त करता है। लंका में उन्हें श्री विभीषण जी के दर्शन होते हैं। सन्त- शिरोमणि होने के नाते विभीषण जी भक्ति के निवास-स्थान से सुपरिचित हैं। उन्होंने तत्क्षण

कह दिया कि अशोकवृक्ष के नीचे श्री विदेहनन्दिनी वैदेही का निवास है। शोकरहित मन में ही भक्ति निवास करती है। अथवा यों कहें कि जहाँ भक्ति का निवास होता है, वहाँ से शोक, मोह, सन्देह, भय आदि का सदा-सर्वदा के लिये विनाश हो जाता है।

श्री हनुमानजी यद्यपि जनकात्मजा के पास पहुँच जाते हैं और यद्यपि उनमें इतनी क्षमता भी है कि वे श्री सीताजी को श्रीरामचन्द्रजी के पास ले जा सकते हैं तथापि उन्होंने सोचा कि ऐसा करने से मेरी ही महिमा बढ़ेगी और जन-साधारण के मन में भक्ति तथा समर्पण के भाव का मूल्यांकन नहीं होगा। फिर, श्री राम ने भी उन्हें केवल श्री सीता जी की खबर लाने की ही आज्ञा दी थी। सेना-सहित श्रीराम का लंकापुरी में आने का उद्देश्य भी यही था कि सब जान लें कि जो सामर्थ्य स्वयं भगवान् में नहीं, वही सामर्थ्य उनके भक्तों में और उनके पुनीत नाम में है। इसका ज्वलंत उदाहरण है सेतुनिर्माण के समय जल पर पाषाण का तैरना।

श्री हनुमान्‌जी यदि सीताजी को ले जाते, तो सेना के बल का, गुणों की शक्ति का प्रदर्शन असम्भव था और स्वयं भक्तिदेवी की परीक्षा भी असम्भव थी। श्री विभीषण जी की भक्ति और प्रेम का, सच्ची शरणागति का परिचय भी सम्भव नहीं था। न ही अंगद की स्वामी-भक्ति का परिचय मिलता। श्री भरतजी के प्रेम में कितना बल है इसकी अनुभूति भी श्री हनुमानजी को नहीं हो पाती। न श्रीराम धर्मरथ के माध्यम से विभीषण जी को मानवता का उपदेश दे सकते थे और न ही भगवान् श्री राम के द्वारा रामेश्वर की स्थापना सम्भव थी। शत्रु के भाई के

प्रति सुग्रीव की राजनीतिक शंका और श्री हनुमानजी के द्वारा सन्तहृदय के पावन गुणों की प्रशंसा भी नहीं होती। और न ही भगवान् के हृदय का शरणागत के प्रति कृपा, करुणा का भाव प्रदर्शित होता। स्वयं श्री राम ने यही कहा है (५ ४३) कि 'सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पवँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि।" विभीषण जी को उनका लंकेश कहकर संबोधित किया जाना यही प्रदर्शित करता है कि ईश्वर कितना कृपालु, दयालु एवं मनोभावों का वेत्ता भी है। सन्त तुलसीदास जी ने कहा है (५/४९ख)—"जो संपत्ति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ। सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥" राज्य की कामना विभीषणजी के मन में भी थी। इसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं। उन्होंने कहा है (५ ४८ ६)—"उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥"

'मानस' में श्री राम के कृपापात्रों में भक्त शिरोमणि श्री हनुमन्तलाल का सबसे ऊँचा स्थान है। जिस मन में मरुद्वेग होते हुए भी जितेन्द्रिय बनने की शक्ति होती है, संयम की शक्ति होती है और विवेकयुक्त बुद्धि भी होती है, वही श्री रामचन्द्र का दूत बनकर भक्ति के पास पहुँच सकता है। श्री पवनसुतरूपी मन भक्ति के प्रसाद से भगवत्-चरणारविन्दों को प्राप्त कर लेता है और वह सच्चे सन्त हृदय का परिचायक है।

भक्त शिरोमणि श्री हनुमानजी के सामूहिक व्यक्तित्व का, पवन की गति और शक्ति रखते हुए भी बुद्धिमानों में श्रेष्ठ अन्जनानन्दन की सेवा-भक्ति के जाग्रत् स्वरूप का दिग्दर्शन कराके श्री गोस्वामी तुलसीदास जी

ने एक ऐसे अनुपम उत्कृष्ट सन्त का निरूपण 'रामचरित मानस' में किया है, जो शताब्दियों तक जन-मानस को भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य का सन्देश देता रहेगा।

श्रीसारदादेवी-वन्दना

ब्रह्मचारी श्रीधरचैतन्य

(राग—मालकौंस : ताल —रूपक)

सारदा देवी विराजे।
भुवनपावन, नयनमोहन
रूप निरुपम राजे ॥ध्रु.॥
सुखासीना, युक्तकरतल,
श्वेतवसन, विमुक्तकुन्तल,
मुखकमल लखि ध्यानमंगल,
अघ-अमंगल लाजे ॥१॥
प्रेमपूरित करुण लोचन,
करत सब दुख-ताप-मोचन।
कटत भवभय, मिटत संशय,
मोहमाया भाजे ॥२॥
'जय जननि! जय जननि!' कलरव,
गात जगजन वन्दना तव।
उठत चित में दिव्य अनुभव,
हृदय वीणा बाजे ॥३॥

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें :–
तोतापुरी

स्वामी प्रभानन्द

अपने तीसवें वर्ष में दक्षिणेश्वर के 'पागल पुजारी' श्रीरामकृष्ण धर्म रहस्यों को जानने के लिए की गयीं अपनी कठोर आध्यात्मिक साधनाओं के बाद कुछ विश्राम ले रहे थे। इन्हीं दिनों शीतकाल की एक सुबह (जनवरी १८६५)[1] वे गंगाजी के घाट की उन सीढ़ियों पर बैठे

---

1 इस तिथि के सम्बन्ध में स्वामी सारदानन्द अपने 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' ग्रंथ (प्रकाशक–रामकृष्ण मठ धन्तोली, नागपुर) में निम्नलिखित संकेत देते हैं :–

(अ) 'उक्त दर्शन-प्राप्ति (श्रीकृष्ण के दर्शन की प्राप्ति) के दो-तीन महीने बाद परमहंस श्रीमत् तोतापुरी का आगमन हुआ था।' (प्रथम खण्ड, द्वि. सं., पृ. 354)

(ब) 'संभवतः सन् 1865 के अन्त में श्रीमत् तोतापुरी जी दक्षिणेश्वर पधारे थे। उसके कुछ ही महीनों बाद...हलधारी ने कालीमन्दिर के कार्य से अवकाश ग्रहण किया था तथा...अक्षय की नियुक्ति हुई थी।' (वही, पृ. 363)

(स) 'पूज्यपाद आचार्य तोतापुरीजी के दक्षिणेश्वर आगमन के कुछ दिन बाद सन् 1865 ई. के प्रारम्भ में... अक्षय ने विष्णुमन्दिर में पूजक का पद ग्रहण किया था।' (वही, पृ. 409) '1864-65 ई. –श्रीमत् तोतापुरीजी का आगमन तथा श्रीरामकृष्णदेव का संन्यासग्रहण।' (वही, पृ. 474)

हुए थे, जो दक्षिणेश्वर मंदिर की उस छत्री में ले जाती हैं, जिसके दोनों बाजू एक पंक्ति में ६–६ शिव-मन्दिर बने हुए हैं। छत्री के पूर्व में एक बड़ा प्रांगण है, जिसके मध्य में दो मन्दिर खड़े हैं– बड़ा भवतारिणी काली का है और दूसरा राधाकान्त जी का। उसके नीचे गंगाजी उत्तर से दक्षिण की ओर बह रही हैं। वहाँ से दोनों तटों पर स्थित अट्टालिकाओं, उद्यानों और छत्रियों की शोभा देखते ही बनती है। श्रीरामकृष्ण वहाँ पर बैठ इस सुन्दर दृश्य को निहार रहे थे, पर उनका स्वभाव से ही अन्तर्मुखी मन अधिक देर तक ऐसा नहीं कर सका और वह आनन्दानुभूति में डूब गया, जिसमें कि उनका मन उन दिनों प्रायः निरंतर डूबा रहा करता था। मध्यम कद के, क्षीणकाय श्रीरामकृष्ण के चेहरे पर अव्यवस्थित छोटी छोटी दाढ़ी थी। उनके नेत्रों में उल्लेखनीय उज्ज्वलता थी, पर अन्तर्मुखता के कारण वे प्रायः अर्ध निमीलित रहते। उन दिनों बाहर के अधिकांश लोग उन्हें 'पागल पुजारी' कहते, मन्दिर के कर्मचारी उन्हें 'छोटे भट्टाचार्य' कहकर पुकारते, उनके बड़े बूढ़े रिश्तेदार

एक दूसरे अधिकारी विद्वान् शशिभूषण घोष ने सुझाव दिया है कि तोतापुरी जी का दक्षिणेश्वर-आगमन बँगला सन् 1273 (ई. सन् 1866-67) में हुआ था।' ('श्री-रामकृष्ण-देव', उद्बोधन, कार्यालय, 1917, पृ. 260)

गंगा के मुहाने (गंगासागर) में स्नान करने का पव पौष संक्रान्ति था, जो बँगला सन् 1271 में जनवरी 1865 ई. के बीच में आया था। परिस्थितियों को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तोतापुरीजी का दक्षिणेश्वर-आगमन जनवरी 1865 में किसी दिन हुआ होगा।

उन्हें 'गदाधर' कहकर सम्बोधित करते और इने-गिने ही लोग उन्हें 'रामकृष्ण' कहते।[2] उन्हें वहाँ बैठे अधिक देर नहीं हुई थी कि उनकी दृष्टि एक नवागन्तुक परिव्राजक संन्यासी पर पड़ी। पुजारी ने बारीकी से उस संन्यासी को देखा ।

संन्यासी 'ऊँचे-पूरे डील-डौल का और मजबूत, सुन्दर काठी का था। वह बड़े जीवट का और दुर्दमनीय साहस से युक्त था —मानो सिंह के आकार की एक चट्टान हो।'[3] तोतापुरी[4] जैसा कि लोग उस संन्यासी को पुकारते, सम्भवतः अपने जीवन के पचास वर्ष देख चुके थे। अपने

2. स्वामी सारदानन्द को लगता है कि तोतापुरीजी ने गदाधर को संन्यास-दीक्षा के समय 'रामकृष्ण' नाम दिया (वही, पृ. 369-70)। कुछ लोगों का कहना है कि मथुरानाथ विश्वास ने सबसे पहले इस नाम का उपयोग किया। अन्य कुछ लोग यह भी सोचते हैं कि भैरवी ब्राह्मणी ने सर्वप्रथम इस नाम से सम्बोधन किया। परन्तु रानी रासमणि ने 18 फरवरी 1861 को जो न्यास-पत्र निष्पन्न किया, उसमें रामकृष्ण भट्टाचार्य का कालीमन्दिर के एक पुजारी के रूप में स्पष्ट उल्लेख रहना कम से कम पहले और तीसरे मतों को काट देता है। यह बहुत सम्भव है कि उनके माता-पिता ने उन्हें यह नाम दिया हो।

3. रोमाँ रोलाँ : 'दि लाइफ ऑफ रामकृष्ण' (अद्वैत आश्रम, मायावती, 1947), पृ. 62।

4. श्रीरामकृष्ण अपने गुरु तोतापुरी को 'न्यांगटा' कहकर पुकारते थे। इसका कारण शायद यह रहा हो कि तोतापुरी नंगे रहा करते थे (बँगला में 'न्यांगटा' का तात्पर्य 'नंगा' होता है)। अथवा यह भी सम्भव है कि वे

जटाजूट और लंबी असँवारी दाढ़ी की पृष्ठभूमि में उनका रोबीला चेहरा ऐसी प्रशान्ति से दमक रहा था, जो ब्रह्म-ज्ञान से जन्म लेता है। वे एक अनोखे परमहंस थे और उनके पास एक चिमटा, पीतल का एक लोटा तथा बैठने के लिए एक मृगचर्म को छोड़ अपना कहने को कुछ न था।

ज्योंही तोतापुरी की दृष्टि श्रीरामकृष्ण पर पड़ी, वे आश्चर्य और आनन्द से भर उठे। उन्होंने तुरन्त ही श्रीरामकृष्ण की अत्युच्च आध्यात्मिक संभावनाओं को पहचान लिया। वे इस तरुण पुजारी के प्रति आकर्षण का अनुभव करने लगे। वे उसके पास गये और बिना किसी लाग-डाट के सीधा-सपाट पूछा, "तुम उत्तम अधिकारी प्रतीत हो रहे हो, क्या तुम वेदान्त-साधना करना चाहते हो?" श्रीरामकृष्ण ने उठकर विनम्र भाव से उनका अभि-वादन किया और कहा, "करने न करने के बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता— मेरी माँ सब कुछ जानती हैं, उनका आदेश मिलने पर कर सकता हूँ।" युवक की निश्छल सरलता ने साधु को मुग्ध कर दिया, तथापि एक क्षणिक मुसकान उनके चेहरे पर खिल उठी होगी। उन्होंने तुरन्त उस युवक से कहा, "तो फिर जाओ, अपनी माँ से पूछकर मुझे जवाब दो, क्योंकि दीर्घकाल तक मैं यहाँ पर नहीं ठहरूँगा।"

तोतापुरी बाद में शीघ्र ही समझ गये थे कि श्री रामकृष्ण पूरी तरह से जगन्माता काली पर उसी प्रकार निर्भर थे, जैसे बिल्ली का छोटा बच्चा अपनी माँ पर होता है। उनके जीवनीकार ने इसे बड़े सुन्दर शब्दों में

अपने गुरु का नाम न लेना चाहते रहे हों ('लीलाप्रसंग', द्वितीय खण्ड, द्वि. सं., पृ. 221)।

अभिव्यक्त किया है – "...श्रीरामकृष्ण उस समय स्वतः प्रवृत्त होकर किसी कार्य को नहीं कर पाते थे। श्री जगदम्बा के बालक श्रीरामकृष्णदेव, तब उन पर पूर्णतया निर्भर हो उनकी ओर दृष्टि निबद्ध कर दिन व्यतीत कर रहे थे तथा वे जैसे उनको घुमा फिरा रही थीं, परमानन्दित हो वैसे ही चल फिर रहे थे। इसलिए जगन्माता भी उनके सम्पूर्ण भार को स्वीकार कर अपने, उद्देश्य विशेष के साधन के निमित्त श्रीरामकृष्णदेव के अगोचर, एक अदृष्टपूर्व अभिनव आदर्श के अनुरूप उनका निर्माण कर रही थीं,।"[5] अतएव वे काली मंदिर में माँ की अनुमति प्राप्त करने के लिए गये।

वे शीघ्र ही वापस लौटे। वे भावाविष्ट थे तथा उनका चेहरा दिव्य आनन्द से दमक रहा था। उनकी माता ने उनसे कहा था – "जाओ सीखो, तुम्हें सिखाने के लिये ही संन्यासी का यहाँ आगमन हुआ है।" वे तोतापुरी से बोले, "हाँ जी, माँ ने तुमसे वेदान्त सीखने के लिये मुझे निर्देश दिया है।"[6] तोतापुरी को यह जानने में कुछ समय लगा था कि उनका भावी शिष्य अपनी जन्म देनेवाली माँ के पास नहीं बल्कि कालीमन्दिर में प्रतिष्ठित जगन्माता के पास गया था। चूँकि वे कट्टर वेदान्ती थे, इसलिए उन्हें यह अवश्य ही एक कौतुक लगा होगा। यद्यपि वे देवी-देवतामें विश्वास

5. वही, प्रथम खण्ड, पृ.363। कुछ दूसरे जीवनीकारों के मतानुसार, तोतापुरी के आने के कुछ समय पूर्व ही श्रीरामकृष्ण में अद्वैत-साधना करने की इच्छा उठी थी।

6. गुरुदास बर्मन: 'श्रीश्रीरामकृष्णचरित' (बँगला) पृ. 74।

को मात्र अन्धविश्वास समझते थे, फिर भी सुदक्ष गुरु ने युवक की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचायी, क्योंकि उनका यह दृढ़ विश्वास था कि वेदान्त की सहायता से वे शिष्य की इस प्रकार की बचकानी धारणाओं को दूर कर देंगे।

बंगाल के सुदूर ग्रामीण अंचल में जन्मे और पले श्रीरामकृष्ण को दक्षिणेश्वर कालीमन्दिर के पुजारी-पद पर दस वर्ष से अधिक हो गये थे। बचपन की उनकी ईश्वर-दर्शन की चाह बढ़कर ऐकान्तिक भक्ति में परिणत हो गयी थी और फलस्वरूप जगन्माता के दर्शन पा वे शीघ्र ही पूरी तरह ईश्वरीय भाव में निमग्न हो गये थे। बाहरी लोग उन्हें पागल समझते, क्योंकि उन्हें लगता कि ईश्वर -दर्शन की अन्तहीन चेष्टा में इस व्यक्ति ने अपने पुजारी-पद के कर्तव्य को भी भुला दिया है। पर कुछ इने-गिने लोगों के लिए, विशेषकर अपनी गुरु भैरवी ब्राह्मणी के लिए, वे अन्य कोई नहीं बल्कि साक्षात् ईश्वर के अवतार थे। ब्राह्मणी के मार्गदर्शन में उन्होंने सफलतापूर्वक समस्त तांत्रिक मतों का और तत्पश्चात् वैष्णव मतों का साधन किया था। फलस्वरूप, अन्त में उन्हें भगवान् कृष्ण का ज्योतिर्मय दर्शन प्राप्त हुआ था, जो दर्शन के उपरान्त उन्हीं की देह में समा गये। उनके भीतर प्रेम का सर्वोत्कृष्ट रूप 'महाभाव' प्रकट हुआ था, जिसकी चरम परिणति में उनकी व्यक्तिगत सत्ता का लोप होकर श्रीकृष्ण को उन्होंने अपने अन्तर और बाहर सर्व-जगत् में व्याप्त देखा था। इस प्रकार सगुण ईश्वर की उपासना की पूर्ण सिद्धि हो जाने के बाद अब उन्होंने अपने सर्वोच्च मार्गदर्शक – जगन्माता– का आदेश सुना कि

7. रोमाँ रोलां , वहीं , पृ. 62।

निर्गुण-निर्विशेष ईश्वर के उच्चतम रहस्यमय जगत् में प्रवेश करने के लिए तैयार हो जाओ।

एक ओर श्रीरामकृष्ण थे, 'जो उनकी आँखों के दर्पण के सामने जो कुछ घट रहा था, उस सबके जीते-जागते प्रतिबिम्बस्वरूप थे—एक द्विमुखी दर्पणकी तरह, जो भीतर और बाहर दोनों ओर प्रतिबिम्बित करता है" [7] तो दूसरी ओर तोतापुरी थे, जो अपनी लौहसदृश बलिष्ठ देह और शारीरिक तथा मानसिक बनावट के कारण 'भावनाओं और प्रेम से शून्य प्रतीत होते थे'।[8] यद्यपि दोनों ही ईश्वर प्राप्ति के पथ के पथिक थे, पर दोनों के व्यक्तित्व के गठन में समानता की अपेक्षा असमानताएँ ही अधिक थीं।

भारत के उत्तर-पश्चिम भाग में एक निष्ठावान् हिन्दू परिवार में तोता (जन्म के समय दिया गया नाम) का जन्म हुआ था। जब वे नितान्त बच्चे थे, तभी से उन्हें एक मठ में भेज दिया गया था। बहुत वर्षों तक कोई सन्तान न होने से उनके माता-पिता ने मानता मानी थी कि अपने प्रथम पुत्र को वे संन्यासी बनने के लिए भगवान् को समर्पित कर देंगे। उस समय भारत के उस क्षेत्र में ऐसी प्रथा प्रचलित थी।[9] तदनुसार बालक को एक बड़े मठ के महन्त, जो प्रसिद्ध योगी थे, को समर्पित कर दिया गया। महन्त की प्रसिद्धि इतनी थी कि उनके सम्मान में वहाँ पर प्रतिवर्ष एक मेला लगता था और लोग मठ के साधुओं को तम्बाकू तथा दूसरी वस्तुएँ भेंट में देते थे।[10].

यह सम्प्रदाय श्री शंकराचार्य द्वारा स्थापित दशनामी

8. उपर्युक्त, पृ. 63।

9. 'लीलाप्रसंग' द्वितीय खण्ड, पृष्ठ 227।

10. उपर्युक्त, पृ. 226।

सम्प्रदाय के अन्तर्गत 'पुरी' सम्प्रदाय से सम्बन्धित था। इसके सदस्य पूर्णतया नग्न रहा करते थे, इसलिए 'नंगा' या 'नागा' कहलाते थे। पंजाब में लुधियाना के समीप स्थित इस मठ का अनुशासन अत्यन्त कठोर था। संसार से वीतराग हो साधक कड़े नियमों का पालन करते, जिनमें अपरिग्रह और कठोर शारीरिक श्रम शामिल थे। तोतापुरी से श्रीराम-कृष्ण ने उस मठ एवं वहाँ साधकों से करायी जाने वाली साधनाओं के सम्बन्ध में जाना था– "उनके दल में सात सौ नागा रहते थे। जिन लोगों ने ध्यान सीखना प्रारम्भ ही किया था, उन्हें गद्दी पर बैठाकर ध्यान कराया जाता था, क्योंकि कठिन आसन पर बैठकर ध्यान करने से उनके पैरों में दर्द होना स्वाभाविक था और उससे उनका अनभ्यस्त मन ईश्वर में संलग्न न होकर शरीर की ओर झुकने लगता। तदनन्तर ज्यों-ज्यों ध्यान जमने लगता, त्यों त्यों उन लोगों को अधिक कठिन आसन पर बैठाकर ध्यान कराया जाता था। अन्त में केवल चर्मासन तथा खाली जमीन पर बैठकर उन्हें ध्यान करना पड़ता था। भोजन आदि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार नियमों का पालन करना अपेक्षित था। सभी शिष्यों को क्रमशः नग्न रहने का अभ्यास कराया जाता था। मानव जन्म से ही लज्जा, घृणा, भय, जाति, कुल, शील, मान इत्यादि में आबद्ध रहता है, इसलिए एक एक करके उनको त्याग देने की शिक्षा दी जाती थी। इसके बाद ध्यानादि में मन अच्छी तरह से संलग्न हो जाने पर सर्वप्रथम उसे अन्य साधुओं के साथ, तदनन्तर अकेले तीर्थपर्यटन करना पड़ता था। नागाओं में इस तरह के नियम प्रचलित थे। [11]

11. वही, पृ. 226–7।

इस प्रकार, संसार-प्रपंच से दूर, तोता का लालन-पालन सर्वत्यागी साधुओं की स्नेहमय देखरेख में हुआ था। उसके मस्तिष्क और हृदय की विशेषताओं ने महन्त का ध्यान आकर्षित कर लिया, अतः वे उस पर विशेष ध्यान देते। उसकी तीव्र मेधा [12] ने भी उसे अल्प समय में शास्त्रों में पारंगत होने में सहायता पहुँचायी। जब वह योग्य प्रतीत हुआ, तब उसे अद्वैत-साधना में दीक्षित कर दिया गया। संन्यास-धर्म में आनुष्ठानिक रूप से प्रविष्ट होने पर वह तोतापुरी के नाम से परिचित हुआ। अब तोतापुरी को उन कठोर साधनाओं में लगा दिया गया, जिनके पीछे युगोंके अनुभवों की मान्यता रही है। "उनके गुरुदेव उन्हें जैसा उपदेश देते थे, उनका मन भी ठीक ठीक उसे धारण कर सदा तदनुसार आचरण किया करता था। मन के छल-कपट के कारण संभवतः उन्हें कभी भी विशेष कष्ट उठाना नहीं पड़ा था।... उनका सीधा-साधा मन सरल रूप से ईश्वर पर विश्वास स्थापन कर गुरुदेव के द्वारा निर्देश किए हुए गन्तव्य पथ पर धीरता के साथ अग्रसर हुआ था एवं बढ़ते हुए उसने एक बार भी पीछे फिरकर संसार के पाप प्रलोभन आदि की ओर अतृप्त लालसा से देखा नहीं होगा। इसीलिए अपने पुरुषार्थ, उद्यम, आत्मनिर्भरता तथा आत्म-विश्वास को ही तोतापुरीजी ने सब कुछ मान रखा

12. तोतापुरी की बुद्धि के सम्बन्ध में श्रीराम-कृष्ण की बड़ी ऊँची धारणा थी। छोटे नरेन्द्र के बारे में एक दिन श्रीरामकृष्ण ने कहा, "इसकी बुद्धि कितनी सूक्ष्म है। नागा इसी तरह बहुत जल्द समझ जाता था– गीता, भागवत में जहाँ जो कुछ है, वह समझ लेता था।"
('श्रीरामकृष्णवचनामृत', तृतीय भाग, तृ. सं., पृ. 97)

था।" [13]

(बाद के अपने परिव्रजन-काल में) "पुण्यतोया नर्मदा के तट पर दीर्घकाल तक एकान्तवास करते हुए भजन-साधन में निमग्न रहकर उन्होंने इससे पूर्व निर्विकल्प समाधि-मार्ग से ब्रह्म-साक्षात्कार किया था, यह बात वहाँ के प्राचीन साधुवर्ग अभी भी कहते हैं।" [14]

इस प्रकार चालीस वर्ष की कठोर साधनाओं ने उन्हें ज्ञान के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ कर दिया। तथापि उन्होंने अपने जीवन के कठोर नियमों और साधनाओं को बनाये रखा।" [15] यथासमय उन्हें उनके गुरु के बाद मठ की गद्दी पर बिठाया गया। [16]

फिर भी उन्होंने जीवन्मुक्त परिव्राजक का जीवन ही अधिक पसंद किया। मुक्त पवन की भाँति वे देश भर में भ्रमण करते रहे। जहाँ भी उन्हें कोई निष्ठावान् साधक दिखायी देता, उसे वे वेदान्त के लिए उत्साहित करते और

13. 'लीलाप्रसंग', उपर्युक्त, पृ. 228।

14. वही, प्रथम खण्ड, पृ. 364।

15. ',नागा कहा करता था, लोटा रोज रगड़ना चाहिए, नहीं तो मैला पड़ जाएगा। साधु-संग सदैव ही आवश्यक है।" ('वचनामृत', तृतीय भाग, पृ. 10)

16. तोतापुरी के शब्दों का स्मरण करते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा, "नागाओं में जिसे ठीक ठीक परमहंस-दशा की प्राप्ति होती थी, गद्दी खाली होने पर सब उसे ही महन्त निर्वाचित कर गद्दी पर बिठाते थे।...जिसके हृदय से कांचन की आसक्ति यथार्थ में दूर हो जाती थी, गद्दी पर बैठाकर रुपये-पैसे का भार उसे ही सौंपा जाता था।" ('लीलाप्रसंग, द्वितीय खंड, पृ. 227)

उसकी शिक्षा देते। कोई सोच सकता है कि जब स्वामी विवेकानन्द ने निम्नलिखित पंक्तियों की रचना की, तो उनकी दृष्टि के सामने ऐसा ही कोई आदर्श संन्यासी रहा होगा–

मत जोड़ो गृह-द्वार, समा तुम सको, कहाँ आवास ?
दूर्वादल हो तल्प तुम्हारा, गृह-वितान आकाश,
खाद्य स्वतः जो प्राप्त, पक्व वा इतर, न दो तुम ध्यान,
खान-पान से कलुषित होती आत्मा वह न महान्,
जो प्रबुद्ध हो, तुम प्रवाहिनी स्रोतस्विनी समान
रहो मुक्त निर्द्वन्द्व, वीर संन्यासी, छेड़ो तान...।[17]

ये परिव्राजक गंगासागर और पुरीधाम के दर्शनों के लिए जाते हुए रास्ते में दक्षिणेश्वर मन्दिर आये थे।[18] निस्संदेह वे पैदल चलकर ही इतनी दूर आये थे। वे इस मन्दिरोद्यान में आते ही पहले उस छत्रीवाले घाट पर गये, जहाँ सीढ़ियों पर उन्हें यह असाधारण युवक बैठा हुआ मिला था।

जैसा कि तोतापुरी का नियम था, वे कभी किसी छत के नीचे विश्राम नहीं करते थे। चाहे आँधी हो या तेज धूप, वे सर्वदा रातें या तो वृक्ष के नीचे बिताते या फिर अनन्त आकाश के नील वितान के नीचे। अपने इस परिव्रजन-काल में वे कभी भी एक स्थान पर तीन दिन से अधिक नहीं रहे। सम्भव है कि श्रीरामकृष्ण के ही सुझाव पर उन्होंने

17. 'विवेकानन्द साहित्य' (अद्वैत आश्रम, मायावती), दशम खण्ड, पृ. 175।

18. गुरुदास बर्मन (उपर्युक्त) के अनुसार, तोतापुरी गंगासागर जाने के रास्ते दक्षिणेश्वर आये। पर स्वामी सारदानन्द ('लीलाप्रसंग', प्र. ख., पृ. 364) लिखते हैं कि तोतापुरी गंगासागर से लौटते हुए दक्षिणेश्वर आये थे।

पंचवटी के नीचे आसन ग्रहण किया और धूनी जला ली। श्रीरामकृष्ण का वर्णन वहाँ पर तोतापुरी के दैनन्दिन जीवन की एक झलक प्रस्तुत करता है– "इसलिए दक्षिणेश्वर में निवास करते समय पंचवटी में वृक्ष के नीचे आसन स्थापित कर 'न्यांगटा' वहाँ ही रहते थे और अपने समीप धूनी जलाकर रखते थे। चाहे धूप हो या वर्षा, 'न्यांगटा' की धूनी समान रूप से जलती रहती थी। 'न्यांगटा' का भोजन, शयन सब कुछ उसी धूनी के समीप होता था। और जब गहरी रात्रि में समग्र बाह्य जगत् विश्रामदायिनी निद्रा की गोद में समस्त चिन्ताओं को भूलकर मातृक्रोड़-स्थित शिशु की भाँति सुखपूर्वक सो जाया करता था, 'न्यांगटा' उस समय उठकर धूनी को भलीभाँति चेताकर सुमेरु की तरह अटल-अचल हो आसन पर बैठकर निवात-निष्कम्प प्रदीप के सदृश अपने शान्त मन को समाधिमग्न कर देते थे। दिन में भी 'न्यांगटा' बहुत देर तक ध्यान किया करते थे; लोगों को कहीं उसका पता न लग जाय, इसका उन्हें विशेष ध्यान रहता था। इसलिए अपने शरीर को सिर से पैर तक चद्दर से ढँककर धूनी के समीप 'न्यांगटा' को मृत व्यक्ति की तरह लम्बा होकर बहुधा लेटे हुए देखा जाता था। लोग यह समझा करते थे कि वे सो रहे हैं।"[19]

पंचवटी के नीचे तोतापुरी की व्यवस्था जम जाने के बाद दोनों महापुरुष उस गम्भीर शान्त वातावरण में अध्यात्म के गूढ़, रहस्यमय तत्त्वों पर चर्चा करने लगे। तोतापुरी ने अपने इस नये शिष्य के साथ प्रारम्भिक चर्चाएँ शुरू कीं। दूसरी बातों के साथ उन्होंने उन तैयारियों की भी चर्चा की, जो शिष्य को अद्वैत वेदान्त के रहस्य में दीक्षित

19. 'लीलाप्रसंग', द्वि. खं., 221।

करने के लिए करनी पड़ेंगी । शिष्य को औपचारिक रूप से संन्यास का व्रत लेना पड़ेगा । श्रीरामकृष्ण संसार-त्याग के लिए तुरन्त तैयार हो गये । तब उन्हें बताया गया कि ऐसा करने के लिए उन्हें शिखा और सूत्र का त्याग करना होगा और श्राद्ध तथा वैसे ही अनुष्ठानादि सम्पन्न करने होंगे । श्रीरामकृष्ण को अपनी जननी चन्द्रामणि देवी का स्मरण कर थोड़ी हिचक हुई, क्योंकि तब उनकी वृद्धा माता उनके साथ दक्षिणेश्वर में ही रहती थीं । उन्हें लगा कि उनके संन्यास-ग्रहण से माँ चिन्तित और आकुल हो जाएँगी । इसलिए उन्होंने तोतापुरी से अनुरोध किया कि वे सब अनुष्ठान एकान्त में गोपनीय तरीके से होना चाहिए, जिससे उनकी माता को उनका पता न चले । ऐसा लगा कि गुरु ने शिष्य की भावना का समादर किया, क्योंकि उन्होंने तत्काल कहा, "ठीक है, जब शुभ मुहूर्त आएगा, तब मैं तुम्हें गुप्त रूप से दीक्षित करूँगा ।"

इसमें सन्देह नहीं कि गुरु और शिष्य के बीच सारा वार्तालाप हिन्दी में हुआ होगा, क्योंकि दोनों के बीच भावों के आदान-प्रदान का वही एकमात्र माध्यम था । यह लगभग सुनिश्चित है कि अपने इस प्रथम वार्तालाप में ही तोतापुरी ने अपने प्रिय विषय—अद्वैत के मूलभूत सिद्धान्तों —की भूमिका बाँधी होगी । बाद में श्रीरामकृष्ण इनमें से कुछ को प्रायः ही उद्धृत किया करते थे —

"मैंने न्यांगटा से वेदान्त सुना था—'ब्रह्म सत्य है, संसार मिथ्या है' ।"20

"न्यांगटा कहा करता कि संसार मन में ही अवस्थित है और वह मन में ही विलय को प्राप्त करता है ।"

20. 'वचनामृत', भाग 1, पृ. 442 ।

"न्यांगटा कहा करता था– मन का लय बुद्धि में, और बुद्धि का लय ज्ञान-स्वरूप में हो जाता है।" 21

"न्यांगटा उपदेश देता था, सच्चिदानन्द ब्रह्म कैसे हैं– जैसे अनन्त सागर है, ऊपर नीचे, दाहिने बायें पानी ही पानी है। वह कारण है–स्थिर पानी है। कार्य के होने पर उसमें तरंगें उठने लगीं। सृष्टि, स्थिति और प्रलय–यही कार्य है। फिर कहता था, विचार जहाँ पहुँचकर रुक जाय, वही ब्रह्म है। जैसे कपूर जलाने पर उसका सर्वांश जल जाता है, जरा भी राख नहीं रह जाती।" 22

तोतापुरी अपनी बात समझाने के लिए कभी कभी चुटकुले सुनाते। वे प्रायः बाघिन और भेड़-बकरियों के झुण्ड की कथा सुनाते, जो बाद में श्रीरामकृष्ण का प्रिय चुटकुला बन गया था। ऐसा विचार मन में उठ सकता है कि ऐसी चर्चाओं में श्रीरामकृष्ण का योगदान क्या रहा होगा। यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके शिशुवत् स्वभाव ने गुरु के रूप में स्वीकृत अपने शिक्षक के समक्ष अपने समूचे जीवन और अनुभूतियों को स्पष्ट रूप से खोल देने के लिए प्रेरित किया होगा। जब तोतापुरी को ज्ञात हुआ कि श्रीरामकृष्ण विवाहित हैं, तो उन्होंने अपने शिष्य को सान्त्वना देते हुए कहा, "इससे हानि ही क्या है? पत्नी के समीप रहने पर भी जिसके त्याग, वैराग्य, विवेक और विज्ञान सर्वथा अक्षुण्ण बने रहते हैं, उसी को यथार्थ रूप में ब्रह्म में प्रतिष्ठित माना जाता है।"23 इस प्रकार गुरु ने अद्वैत सिद्धान्तों की धारणा करने के लिए शिष्य की मनोभूमि

21. उपर्युक्त, भाग 2, पृ. 115।

22. उपर्युक्त, भाग 1, पृ. 565।

23. 'लीलाप्रसंग', प्रथम खण्ड, पृ. 393।

तैयार की थी।

निश्चित तिथि को, ब्राह्म मुहूर्त में, 24 शिष्य ने पूर्व-कृत्य सम्पन्न किये तथा होमाग्नि में विरजा होम सम्पन्न कर गुरु से संन्यास-जीवन के चिह्न के रूप में कौपीन और गेरुआ वस्त्र प्राप्त किये। तत्पश्चात् वे दोनों पंचवटी के नीचे निर्मित फूस की कुटिया के भीतर गये। यहाँ, गुरु के निर्देशानुसार, श्रीरामकृष्ण ने अपने मन को समस्त इन्द्रिय-विषयों से हटा लिया और वे उसे निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में डुबाने की चेष्टा करने लगे। पर उस अतीन्द्रिय अवस्था में पहुँचने की केवल एक ही बाधा थी, और वह थी जगदम्बा की वराभयकरा ज्योतिर्मयी मूर्ति। तथापि गुरु के दृढ़तापूर्ण उपदेश की सहायता से तथा स्वयं के अडिग निश्चय के बल पर उनका मन इस नाम-रूपात्मक जगत् के परे चला गया और उन्हें निर्विकल्प समाधि लग गयी। जब यह समाधि निरंतर तीन दिनों तक टूटी नहीं, तब तोतापुरी इसी अवस्था को पाने के लिए अपनी सुदीर्घ चालीस वर्ष की कठोर तपस्या का स्मरण का विस्मय से भर गये।। पर जैसे जैसे दिन बीतते गये, तोतापुरी को आश्चर्य से विह्वल करनेवाली बातें अधि-काधिक प्रकट होती गयीं। अन्य गुरुओं के समान, तोतापुरी की भी आध्यात्मिक जीवन की कमियों को श्रीरामकृष्ण धीरे धीरे दूर करनेवाले थे। इधर तोतापुरी, जो तीन दिन से अधिक नहीं रुकने वाले थे, सुदीर्घ ग्यारह महीने दक्षिणे-

24. स्वामी सारदानन्द का यह दृढ़ मत है कि श्रीरामकृष्ण की संन्यास-दीक्षा तोतापुरी के दक्षिणेश्वर-आगमन के अल्पकाल बाद ही हुई थी। ('लीलाप्रसंग', प्रथम खण्ड, पृ. 366–7)

श्वर में रह गये । उस अवधि में उनके साथ ऐसी घटनाएँ घटीं, जिनके द्वारा अपनी कुछ भूल धारणाओं को सुधारने में उन्हें सहायता मिली । बाद में उनके इस परिवर्तन का वर्णन करते हुए श्रीरामकृष्ण कहा करते– "न्यांगटा ने 'नेति-नेति' का विचार करते हुए, वेदान्त की प्रक्रिया से ब्रह्मज्ञान लाभ किया था । पर न्यांगटा ब्रह्म की शक्ति को सत्य नहीं मानता था । वह कहता कि ब्रह्म की शक्ति तो माया है, मिथ्या है, और इस प्रकार वह शक्ति की ठिठोली करता । पर उसके यहाँ ग्यारह महीने के निवास-काल में माँ काली ने उसे अद्वैत का सत्य सिखा दिया – यह समझा दिया कि ब्रह्म और माया शक्ति अभिन्न हैं । उसी प्रकार ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं ।" [25]

और इस शिक्षा-क्रम में अपनी भूमिका के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण ने कहा था, "मैं एक ज्ञानी के पंजे में फँस गया, उसने ग्यारह महीने तक वेदान्त सुनाया । परन्तु वह मुझमें भक्ति का बीज बिल्कुल नष्ट नहीं कर सका ! घूम - फिरकर वही 'माँ-माँ' ! जब मैं गाता था तब (न्यांगटा) रोने लगता था । कहता था– 'अरे, यह तूने क्या सुनाया !' देखो, इतना बड़ा ज्ञानी भी रोने लगता था ।" [26]

शिष्य की बुद्धिमत्ता का गुरु पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि तोतापुरी शिष्य को परमहंस [27] कहकर संबोधित करने लगे और यह नाम बाद में बहुत प्रचलित हो गया । इस प्रकार तोतापुरी का मन समाहित हुआ और प्रशान्ति से भर उठा । अन्त में वे अपनी तीर्थ यात्रा पूरी करनेदक्षिणेश्वर

---

25. 'दि कम्पलीट वर्क्स, ऑफ स्वामी अभेदानन्द' (रामकृष्ण वेदान्त मठ, कलकत्ता), भाग 10, पृ. 640 ।

26. 'वचनामृत', तृतीय भाग, पृ. 174 ।

से चल पड़े। श्रीरामकृष्ण को फिर कभी उनके समाचार नहीं मिले, पर बाद में जब श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण पश्चिमोत्तर भारत में परिव्रजन कर रहे थे, तब तोतापुरी की महानता के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक बातें सुनी थीं।

27. गुरुदास बर्मन, उपर्युक्त पृ. 76।

●

कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पंडित उपाध्यायजी ने दिल्ली के बिड़ला लक्ष्मी-नारायण मन्दिर में 'लक्ष्मण-चरित्र' पर 4 से 11 अप्रैल 1973 तक आठ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख इस क्रम का आठवाँ और अंतिम प्रवचन है, जो रामनवमी के दिन दिया गया था।

टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री नन्दकिशोर स्वर्णकार ने किया है, जो दिल्ली की सालिड स्टेट फिजिक्स लेबोरेटरी में कार्यरत हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।
—सम्पादक)

पिछले प्रवचनों में हम लोगों ने श्रीलक्ष्मणजी की भूमिका को देखने का प्रयास किया। यह देखा कि वे हर क्षण भगवान् श्रीराम के साथ हैं और श्रीराम की आवश्यकता के अनुसार अपनी भूमिका बदलते रहते हैं। केवल एक ही प्रसंग में भगवान् राम लक्ष्मणजी को अपनी भूमिका में साथ नहीं लेते, और फल यह होता है कि उन पर संकटों का बादल टूट पड़ता है। वैसे भगवान् श्रीराम लक्ष्मण जी से कुछ छिपाते नहीं थे। एक ही बार छिपाया और उसी के बाद सारी दुर्घटनाएँ घट गयीं। गोस्वामीजी कहते हैं कि जब श्री सीताजी के हरण की योजना बनी, तब लक्ष्मणजी वन में कन्द-मूल-फल लेने गये हुए थे। प्रभु ने श्रीलक्ष्मण को अपनी इस योजना में जो सम्मिलित नहीं किया, उसका एक कारण था। प्रभु ने विचार किया, यदि मैं लक्ष्मण से

कहूँ कि रावण का वध करने के लिए यह योजना बनायी जा रही है, तो संभवतः वे यह कह दें कि उसके लिए इतनी झंझट करने की क्या आवश्यकता है, मैं अभी जाकर रावण का वध किये देता हूँ। इससे तो फिर नाटक का ठीक ठीक विस्तार नहीं हो पाएगा, लक्ष्मण की प्रीति उसमें अवरोध बनेगी। इसलिए यही एक प्रसंग है, जहाँ भगवान् राम लक्ष्मण से कुछ छिपाने की चेष्टा करते हैं, अन्यथा सब जगह श्री लक्ष्मण भगवान् श्रीराम के साथ हैं।

कल आपके सामने प्रसंग चल रहा था कि श्रीराम वन को जा रहे हैं। श्रीलक्ष्मण भी साथ चलना चाहते हैं, पर प्रभु साथ चलने से मना करते हैं। तिस पर भी श्रीलक्ष्मण नहीं मानते, वे प्रभु की आज्ञा अस्वीकार कर देते हैं। यह विचित्र बात मालूम होती है। श्रीलक्ष्मण ऐसा क्यों करते हैं! तीन तरह के सेवक होते हैं– एक तो वे, जो आज्ञा प्राप्त होने पर उसका पालन करते हैं; दूसरे वे, जो आज्ञा प्राप्त होने से पहले स्वामी के मन की बात भाँपकर उसे पूरा करने में लग जाते हैं; और तीसरे वे, जिनके मन में स्वामी के मन में उठने से पहले ही स्वामी की आवश्यकता का भान हो जाता है और उसकी पूर्ति में वे लग जाते हैं। ये तीसरे प्रकार के सेवक दुर्लभ होते हैं पर ये ही सर्वोत्कृष्ट सेवक हैं। स्वामी के मन में जो बात भविष्य में आती है, वह ऐसे सेवकों के मन में वर्तमान में ही उपस्थित हो जाती है। लक्ष्मणजी ऐसे ही सर्वोत्कृष्ट सेवक हैं। भगवान् राम लक्ष्मणजी से कहते तो हैं कि वन में न चलो, पर उन्हें स्वयं यह ज्ञात नहीं कि वन में उन्हें लक्ष्मणजी की कितनी आवश्यकता पड़ेगी। इस आवश्यकता को प्रभु की अपेक्षा श्रीलक्ष्मण अधिक जानते हैं, इसीलिए वे प्रभु के निषेध

करने पर भी वन साथ चलने का आग्रह करते हैं। आश्चर्य तो इस बात का होता है कि भगवान् राम लक्ष्मण को रोक क्यों रहे थे, क्योंकि यदि श्रीलक्ष्मण न होते, तो आगे चलकर उनकी समग्र लीला का निर्वाह भी सम्भव न होता। श्री लक्ष्मण की खूबी इतनी ही नहीं है कि वे श्रीराम की आवश्यकता को उनकी भी अपेक्षा अधिक जानते हैं, बल्कि यह भी कि श्रीराम की आवश्यकता को श्रीराम की आवश्यकता न बता, अपनी आवश्यकता बताते हैं। वे श्रीराम से कहते हैं–'मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला' (२/७१/३)– 'मैं तो आपके स्नेह में पला हुआ नन्हा शिशु हूँ', मैं आपके बिना नहीं रह सकता। और इस प्रकार आग्रह करते हुए वे श्री राघवेन्द्र के साथ वन-पथ में चलते हैं।

विगत सात दिनों में हम यहीं तक पहुँच पाये हैं। अब एक दिन में अयोध्याकाण्ड से उत्तरकाण्ड तक कैसे पहुँचें? अतः सूत्र के रूप में कुछ बातें आपके सामने रख दें।

जब वन-पथ में श्रीलक्ष्मण चलते हैं, तो उनके चलने का एक क्रम है। जब बैठते हैं, तो बैठने का भी एक क्रम है। यह 'रामचरितमानस' तो एक दर्शन है, काव्य है, पुराण है, धर्मशास्त्र है और सामाजिक जीवन के लिए महामंत्र है- आप चाहे जिस दृष्टि से देखिए। तो, भगवान् श्रीराम के वनगमन में लक्ष्मणजी की भूमिका क्या है? बैठने में अलग और चलने में अलग। जब तीनों बैठते हैं तो क्रम प्रदर्शित करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं –

राम बाम दिसि जानकी, लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सकल कल्यानमय, सुरतरु तुलसी तोर॥

–लक्ष्मणजी प्रभु के दायें रहते हैं और सीताजी बायें।

और जब चलते हैं, तो क्रम रहता है—

आगे रामु लखनु बने पाछें ।
तापस बेष बिराजत काछें ॥
उभय बीच सिय सोहति कैसें ।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसें ॥ ३/१२२/१-२

जहाँ बैठने के क्रम में भगवान् राम मध्य में हैं तथा श्री सीताजी और श्रीलक्ष्मण आजू-बाजू हैं, वहीं चलने के क्रम में सीताजी मध्य में हैं तथा भगवान् और श्रीलक्ष्मण आगे और पीछे । सामान्यतया मध्य में जो रहता है, वह श्रेष्ठ होता है । तो, श्रेष्ठ कौन हैं— भगवान् राम या श्री सीता ? पर गोस्वामीजी एक दूसरी उपमा देते हैं । भले ही किसी समय श्रीराम मध्य में हों और दूसरे समय श्री जानकी, पर ये दोनों के दोनों लक्ष्मणजी की ओर देखते हैं । किस प्रकार देखते हैं ?

जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसें ।
पलक बिलोचन गोलक जैसें ॥ २/१४१/१

—मानो भगवान् राम और श्रीसीताजी नेत्रों की दो पलकें हों और लक्ष्मणजी बीच की पुतली । यहाँ पर पुतली बीच में आ गयी और पलकें दोनों ओर रहीं । गोस्वामीजी का तात्पर्य यह है कि स्थूल दृष्टि से देखने पर भले ही कभी श्री राम मध्य में दिखायी देते हों और कभी श्रीसीताजी, पर भाव की दृष्टि में तो लक्ष्मणजी ही दोनों के मध्य शोभा पाते हैं । वे दोनों के वात्सल्य के चिरन्तन भागी हैं । तभी तो गोस्वामीजी ने 'गीतावली रामायण' में एकचित्र प्रस्तुत किया । भगवान् श्रीराम की दृष्टि गयी वनस्थली की ओर । देखा सामने वन में लता और वृक्ष के द्वारा एक सुन्दर कुंज का निर्माण हो गया है । प्रभु सीताजी के साथ

उसी लता-कुंज में जाकर बैठे। लता और वृक्ष को देख प्रभु को कुछ स्मरण हो आया और उन्होंने जानकी जी की ओर देखकर कहा– देखो प्रिये, यह दृश्य कितना अच्छा लग रहा है। यह वृक्ष सौभाग्यशाली है, जिसकी अपूर्णता को लता ने पूर्ण कर दिया है। वृक्ष के पत्तों में तो छिद्र हैं, पर लता के उस पर छा जाने के कारण उसके सारे छिद्र ढक गये हैं। इस पर सीताजी बोलीं– मैं ऐसा नहीं मानती। वस्तुतः सौभाग्य तो लता का है। अगर कहीं वृक्ष ने अपनी भुजा का आश्रय दे उसे इतना ऊपर न उठाया होता, तब तो लता कहीं भूमि में ही पड़ी रहती और कोई पशु उसे चर जाता। यह तो वृक्ष का ही बड़प्पन है कि उसने आश्रय दे लता को ऊपर उठाया, उसे सम्मान दिया, सुरक्षा प्रदान की!

जब श्रीराम वन जाने को प्रस्तुत हुए, तो कौसल्या-अम्बा ने उनसे कहा, "राघवेन्द्र, यह जो मेरी पुत्रवधू है, वह कल्पलता है– 'कलप-बेलि जिमि बहुविधि लाली' (२/५८/३)--इसका लालन-पालन मैंने कल्पलता की तरह किया है। तो क्या यह उचित होगा कि तुम इस कल्पलता को वन में ले जाओ?" माँ ने तो कविता कर दी, पर श्रीकिशोरीजी ने माँ की ओर देखकर संकेत किया कि माँ, मैं अगर लता हूँ, तो वृक्ष के आश्रय के बिना रहूँगी कैसे? वृक्ष के आश्रय में ही तो लता सुरक्षित रहती है? तो, यहाँ वृक्ष और लता प्रतीक बन गये। वृक्ष के प्रतीक बन गये श्रीराम और लता की प्रतीक बनीं श्रीसीताजी। दोनों में प्रगाढ़तम अनुराग है। भगवान् राम को लगता है कि उनमें जो कमी थी, वह सीताजी ने पूरी कर दी। तभी तो वे सीताजी से कहते हैं कि लता ने वृक्ष की अपूर्णता पूर्ण कर दी! और भावुक

भक्तजन भी यही बात कहते हैं। तभी तो गोस्वामीजी एक मधुर काव्यमयी कल्पना करते हैं।

विवाह के मण्डप में भगवान् राम हाथ में सिन्दूर लेकर सीताजी के माथे पर लगाने चले हैं। गोस्वामी जी को लगता है–

अरुन पराग जलजु भरि नीकें।
ससिहि भूष अहि लोभ अमी कें ॥१/३२४/६

–मानो कमल को लाल पराग से अच्छी तरह भरकर अमृत के लोभ से साँप चन्द्रमा को भूषित कर रहा है। यहाँ पर गोस्वामीजी श्रीराम के हाथ को कमल की, सेन्दुर को पराग की, श्रीराम की श्याम भुजा को साँप की और सीताजी के मुख को चन्द्रमा की उपमा देते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं–मुझे ऐसा लग रहा है, जैसे सर्प अमृत के लोभ से कमल लेकर चन्द्रमा को भूषित कर रहा हो। गोस्वामीजी ने अपनी समूची कवित्व-शक्ति इन शब्दों में रख दी। क्या तात्पर्य है ? पहले तो उन्होंने भगवान् राम की भुजा को सर्प बना दिया, जिस पर कई लोगों को आपत्ति हो सकती है। प्राचीन टीकाकारों में से कई लोगों ने तो यह माना ही नहीं कि इस चौपाई में 'अहि' का अर्थ सर्प है। उन्हें लगा कि भगवान् राम तो यह पहली बार ही श्रीसीताजी का स्पर्श कर रहे हैं, उन्हें सिन्दूर लगा रहे हैं और क्या ऐसे समय गोस्वामीजी इतने भावविहीन हो गये कि भगवान् की भुजा को साँप बना दिया ? कहाँ उस समय उनकी भुजा को सुकोमल की उपमा देनी चाहिए थी और कहाँ सर्प जैसी कठोर वस्तु के साथ उसकी उपमा कर दी ! यदि युद्ध का समय होता, तो सर्प की उपमा सार्थक हो सकती थी, जैसा कि गोस्वामीजी अरण्यकाण्ड के युद्ध

के प्रसंग में करते हैं। जब भगवान् राम युद्ध के लिए तैयार होने हेतु अपनी जटाओं को बाँधने लगे, तो गोस्वामीजी लिखते हैं—

मरकत सयल पर लरत दामिनि
कोटि सों जुग भुजग ज्यों । ३/१७/छं.

—'मानो मरकतमणि (पन्ने) के पर्वत पर करोड़ों बिजलियों से दो साँप लड़ रहे हों।' तो' यहाँ पर भुजाओं को साँप कहना सार्थक है। पर इस मधुर पाणि-ग्रहण के अवसर पर, सिन्दूर-दान के अवसर पर, शृंगार के प्रसंग में भगवान् राम की भुजा को सर्प बनाना बड़ा असंगत प्रतीत होता है। किन्तु यदि हम थोड़ा गहराई से विचार करके देखें, तो गोस्वामीजी की अनोखी सूझ का पता चलेगा। उनके शब्दों पर ध्यान दें। वे कहते हैं कि सर्प मानो अमृत के लोभ से चन्द्रमा का अभिषेक कर रहा हो । अब सर्प की निन्दा इसीलिए तो होती है कि वह जहरीला होता है। सर्प को अपनी आलोचना सुनते सुनते मानो चिन्ता हो गयी कि वह गरल-रूप है। उसने सुना कि चन्द्रमा के पास अमृत है। उसने विचार किया कि यदि उससे अमृत ले लें, तो कम से कम हमारा कलंक तो मिट जाय । इसी प्रकार मानो अखण्ड ज्ञानघन भगवान् राम को लगा कि लोग मुझे योद्धा के रूप में ही जानते हैं, मेरे धनुष-बाण को देखकर लोगों को लगता है कि ये हाथ तो संहार करने के लिए हैं, तो अब यदि हम भक्तिरूपी सीता से करुणा का अमृत प्राप्त कर लें , तो लोगों को हमारे शौर्य पर नहीं, करुणा पर विश्वास होगा। अतः जब सर्प अमृत के लोभ से चन्द्रमा को भूषित कर रह है, तो विष के द्वारा यहाँ पर दंशन का प्रसंग कहाँ! मानो भगवान् राम सीताजी से कुछ ले रहे हैं।

यह विचित्र बात है। वे सिन्दूर दे रहे हैं या ले रहे हैं? गोस्वामीजी कहते हैं– दिखायी तो यही दे रहा है कि दे रहे हैं, पर यह जो दे रहे हैं, वह वस्तुतः लेने के लोभ में। बात बड़े पते की है। सिन्दूर सौभाग्य का चिह्न माना जाता है। तो, जब कोई अपनी पत्नी के माथे में सौभाग्य का दान देता है, तो वह वस्तुतः स्वयं अपने को आशीर्वाद देता है। अगर कोई अपनी पत्नी को सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दे, तो वह वास्तव में अपने को ही आशीर्वाद दे रहा है कि मैं सुरक्षित रहूँ। इस प्रकार सिन्दूर-दान में अपने को ही सुरक्षा प्रदान करने की प्रवृत्ति है। इसीलिए भगवान् राघवेन्द्र दे नहीं रहे हैं, ले रहे हैं, सुरक्षा ले रहे हैं। इसके साथ ही गोस्वामीजी और एक बढ़िया कल्पना करते हैं। वे कहते हैं कि सर्प से हम इसीलिए तो डरते हैं कि वह काल या मृत्यु का प्रतीक है। पर जब सबको मारने वाला काल ही सिन्दूर देने लगे, सौभाग्य-दान करने लगे, तब तो मृत्यु का भय ही समाप्त हो गया, सीताजी को अखंड सौभाग्य का वरदान प्राप्त हुआ और इस प्रकार स्वयं प्रभु को ही अखण्ड जीवन प्राप्त हो गया।

गोस्वामीजी एक और मधुर कल्पना करते हैं। सर्प के पास विष था, अमृत नहीं, और जब वह चन्द्रमा से अमृत माँगने चला, तो उसने सोचा-कुछ देकर ही तो माँगना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि चन्द्रमा को सर्प क्या दे? गोस्वामीजी की काव्य-कल्पना देखिए। वे कहते हैं कि सर्प ने चन्द्रमा को वह दिया, जो उसने कभी देखा न था– 'अरुन पराग जलजु भरि नीकें'– कमल को लाल पराग से भरकर चन्द्रमा को दिया! चन्द्रमा संसार में सब कुछ पा ले सकता है, पर कमल का पराग वह कभी नहीं पा सकता,

क्योंकि जब चन्द्रमा उदित होगा, तब कमल मुँद जाएगा, तो फिर उसका पराग कहाँ से मिले ?

तो, प्रभु अमृत पाने के लिए सिन्दूर क्या दे रहे हैं, मानो श्रीकिशोरीजी के प्रति उनके हृदय में जो अनन्य अनुराग है, उससे भक्तिदेवी का शृंगार करके करुणारूपी अमृत प्राप्त कर मानो उनके प्रति अपनी कृतज्ञता का भाव अर्पित कर रहे हैं। दार्शनिक दृष्टि से भी यह बात सत्य है कि भक्ति के बिना ब्रह्म में रसमयता नहीं आती। यदि ब्रह्म में केवल ज्ञान की ऊँचाई ही ऊँचाई हो और भक्ति न हो, तो रसाभाव रहेगा। अतएव प्रभु ठीक ही कहते हैं कि श्रीसीताजी-रूप लता से ऊँचे वृक्ष-रूप ब्रह्म की शोभा-रूप रसमयता बनी हुई है।

इस तरह श्रीसीताजी और भगवान् श्रीराम दोनों अपने अपने पक्षों का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु निर्णय नहीं हो पाता है। तब प्रभु अपने चिरसंगी श्री लक्ष्मण को बुलाते हैं और कहते हैं कि तुम निर्णय करो। पहले जानकीजी अपना पक्ष प्रस्तुत करती हैं, फिर भगवान् राम। श्री लक्ष्मण दोनों पक्षों को ध्यानपूर्वक सुनते हैं और कहते हैं कि आप दोनों ही बिल्कुल ठीक कहते हैं— वृक्ष और लता दोनों सौभाग्यशाली हैं, पर चित्र इतने में पूरा नहीं होता, क्योंकि दोनों से अधिक और पूर्ण सौभाग्यशाली तो वह पथिक है, जो दोनों की छाया में विश्राम करता है। आप दोनों तो आधे आधे सौभाग्यशाली हैं, पर पूरा सौभाग्यशाली तो मैं हूँ, जिसे आप दोनों का पूर्ण स्नेह प्राप्त है !

यह तो हुआ बैठने का क्रम। और जब चलते हैं तो आगे आगे प्रभु चलते हैं और सबसे पीछे लक्ष्मण। मानो प्रभु आगे चलकर मार्ग में पड़े काँटों को अपने चरणों में

स्वीकार करते हैं जिससे पीछे चलनेवालों के पैरों में काँटा न चुभे। यही तो प्रभु की अशेष करुणा है कि वे पसीजकर जीवों का कष्ट अपने ऊपर ले लेते हैं। जीवन-पथ ऐसा है, जहाँ कभी पुष्पों की वर्षा होती है, तो कभी काँटे मिलते हैं। ऐसे में हम क्या करें? हम प्रभु को देखें, उनके जीवन से सीखें। भगवान् राम तो ईश्वर थे, वे चाहते तो उनके पथ में सदैव पुष्प ही बिछे रहते। पर वे तो हमें चलना सिखाने आये थे। इसीलिए उन्होंने जीवन में केवल फूलों का पथ ही स्वीकार नहीं किया, बल्कि काँटों के मार्ग पर भी चले। जिसने भी उन्हें काँटों के मार्ग पर चलते देखा, उसके मन में यही आया कि क्या ये सुकुमार चरण काँटों पर चलने योग्य हैं? गाँव की एक स्त्री ने जब देखा, तो वह कह उठी कि ब्रह्मा कितना निर्दयी है! एक तो ब्रह्मा को इन्हें वन नहीं भेजना था और जब भेज ही दिया, तो उसे एक कार्य करना चाहिए थी —

जो जगदीस इन्हहि बनु दीन्हा।
कस न सुमनमय मारगु कीन्हा। २/१२०/४

—उसे सारा रास्ता पुष्पमय बना देना था। फूलों की सड़क बनाकर वन भेज देते, तो कोई बात नहीं थी।

श्रीराम को वन भेजने के कारण का अनुमान करती हुई एक सखी दूसरी सखियों से कहने लगी— जानती हो, ब्रह्मा ने इन्हें वन में क्यों भेजा? ब्रह्मा को इनसे ईर्षा हो गयी। इनकी सुन्दरता देख ब्रह्मा ने सोचा कि ऐसी ही मूर्ति मैं भी बना दूँ, पर बहुत चेष्टा करने पर भी जब वह न बना सका, तो उसे लगा कि यदि ये नगर में रहेंगे, तो नागरिक हमारी आलोचना करते रहेंगे। इसलिए ईर्षा के वश हो उसने इनको जंगल में लाकर छिपा दिया, ताकि लोगों

की आलोचना से वह बच जाय –

एक कहहिं ए सहज सुभाए ।
आपु प्रगट भए बिधि न बनाए ॥
इन्हहि देखि बिधि मनु अनुरागा ।
पटतर जोग बनावै लागा ॥
कीन्ह बहुत श्रम ऐक न आए ।
तेहिं इरिषा बन आनि दुराए ॥ २/१९९/२, ५-६

गाँव की तीसरी स्त्री ने कहा कि यदि ब्रह्मा इन्हें छिपाना ही चाहता है, तो एक उपाय हमारे पास है–

जौं मागा पाइअ बिधि पाहीं ।
ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं ॥ २/१२०/५

–हम इन्हें अपनी आँखों में छिपाकर रख लेंगी । इससे इन्हें कोई देख भी न पाएगा, फिर इनके सुकुमार चरणों को कोई कष्ट भी न होगा और ब्रह्मा का उद्देश्य भी पूरा हो जायगा। ये तो ऐसे सुकुमार हैं कि नेत्र में ही रखने योग्य हैं !

पर इतना होते हुए भी प्रभु ने वन के काँटों को स्वीकार किया ! भगवान् वेदव्यास 'श्रीमद्भागवत' में (९/११/१९) प्रभु के कंटक-विद्ध चरणों का स्मरण करते हैं । वे लिखते हैं कि जब श्रीराम अपनी लीला का संवरण करने लगे , तब–

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः ।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः ॥

–'अपना स्मरण करनेवाले भक्तों के हृदय में अपने उन चरणकमलों को स्थापित करके, जो दण्डकवन के काँटों से बिंध गये थे, अपने स्वयंप्रकाश परम ज्योतिर्मय धाम में चले गये ।' यह प्रभु की करुणा का स्मरण है ।

आज प्रभु के अवतार की तिथि है । प्रभु ने इस

संसार में अवतार क्यों लिया और अवतार लेकर उन्होंने क्या पाया ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि भगवान् राम ने अपनी पूरी लीला में चार वस्तुएँ पायीं। अवतार लेते ही उन्होंने आँसू पाये। अवतरित होते ही उन्होंने माता कौसल्या से पूछा– क्या करें ? माता ने कहा – 'कीजै सिसु-लीला'। बस, त्योंही 'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना' –प्रभु की आँखों में आँसू आ गये। तो, अयोध्या में उन्हें आँसू मिला। और जब वे जनकपुर गये, तो दूसरी वस्तु मिली। जब वे लता-कुंज से प्रकट हुए, तो 'भाल तिलक श्रम बिन्दु सुहाए'। इस प्रकार जनकपुर में उन्हें 'श्रमबिन्दु' मिले। अयोध्या में उनके माथे पर पसीना नहीं दिखायी देता। फिर जब दण्डकारण्य गये, चित्रकूट गये, तो काँटे मिले। और जब लंका गये, तो विभीषण को बचाने की प्रक्रिया में उन्हें छाती पर बाण का प्रहार सहना पड़ा। तो, आज के दिन जब हम श्रीराम का ध्यान करें, तो केवल उनकी सुन्दरता को ही न देखें, अपितु उनके उन चरणों पर भी दृष्टि डालें, जो काँटों से बिंधे हुए हैं, उन नेत्रों को भी देखें, जिनमें आँसू भरे हुए हैं, उस भाल का भी अवलोकन करें, जो पसीने से भरा हुआ है और उस छाती का भी ध्यान करें, जिसने बाण की चोट सही है। काँटे यदि विघ्न के प्रतीक हैं, तो आँसू दुःख के, पसीना यदि श्रम का प्रतीक है, तो बाण काल का। मानो प्रभु संसार के समस्त जीवों से कहते हों– मैं तुम्हारा विघ्न, तुम्हारा दुःख, तुम्हारा श्रम , तुम्हारा काल लेने आया हूँ। तुम मुझसे आनन्द लेकर इन वस्तुओं को मुझे दे दो। प्रभु के अवतार का उद्देश्य ही यह है – सबका दुःख लेकर अपने आनन्द का वितरण करना। जीवन के इस कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलकर भगवान् श्रीराम ने

हम लोगों को चलना सिखाया।

वे कैसे चलते हैं, इस पर वाल्मीकि और गोस्वामीजी में भेद है। वाल्मीकि कहते हैं कि लक्ष्मणजी आगे हैं, उनके पीछे सीताजी हैं और सबसे पीछे भगवान् राम। यह भी बड़ी सुन्दर भावना है। मानो भगवान् राम दोनों के पीछे उनकी रक्षा के लिए चल रहे हैं। गोस्वामीजी का कथन है कि आगे भगवान् राम हैं, बीच में सीताजी और सबसे पीछे लक्ष्मणजी। यहाँ गोस्वामीजी की भावना भिन्न है, वह यह कि यह वन का पथ काँटों से भरा हुआ है और जो आगे चलेगा, उसके पैर में काँटे चुभेंगे। मानो प्रभु ने दोनों से कह दिया– हमबड़े हैं, तुम पीछे चलो। प्रभु का तात्पर्य यही था कि यदि काँटे चुभें तो मेरे पैरों में चुभें, पीछे चलने वालों के पैरों में न चुभ पाएँ। तभी तो गोस्वामीजी ने अपने किसी भी साहित्य में श्री सीताजी या श्री लक्ष्मणजी के पैरों में काँटे लगने का वर्णन नहीं किया है। भगवान् राम अपने भक्तों का पथ निष्कंटक बनाते हैं।

एक सज्जन ने पूछ दिया– ठीकहै, श्रीराम आगे चल रहे थे, पर क्या वे काँटे बचाकर नहीं चल सकते थे? कभी कभी लोग बहुत बुद्धि से सोचने लग जाते हैं। वैसे यह बहुत बुद्धि से सोचने की बात नहीं है, पर लोग सोचने लगते हैं इसका कोई उपाय भी नहीं है। वे मानते हैं कि उनके सोचने के पीछे तर्क है। ठीक है, यदि कोई व्यक्ति चलते समय नीचे की ओर दृष्टि करके चले, तो काँटों से तो बच सकता है, पर प्रश्न यह है कि श्रीराम क्या नीचे की ओर दृष्टि करके चल सकते थे? 'कवितावली' और 'गीतावली' को पढ़ने से ज्ञात होता है कि भगवान् राम किस प्रकार चलते थे। प्रभु लौटकर बार बार देखते जाते थे कि कहीं पीछे

चलनेवाले दोनों जन थक तो नहीं गये – 'सादर बारहिं बार सुभायँ चितै तुम्ह त्यों' (कवितावली, अयो. कां., २१) ऐसी दशा में उनके पैरों में काँटे लगना स्वाभाविक ही था। भले ही प्रभु आगे चल रहे थे, पर उनकी दृष्टि पीछे की ओर थी। हम एक हैं, जो चलते हैं तो पीछे लौटकर देखते ही नहीं कि साथवाले थक तो नहीं गये, वे कहीं पीछे तो नहीं छूट गये।

और तीनों में परस्पर प्रीति की पराकाष्ठा है। लक्ष्मणजी कहते हैं– प्रभु, मुझे जरा प्यास लग गयी है। तो क्या लक्ष्मणजी को सचमुच प्यास लगी है? नहीं। उन्हें तो आगे चलनेवालों का ध्यान हो आता है। प्रभु को चिन्ता है कि हमारे पीछे चलनेवालों को काँटे न लगें, और लक्ष्मण जी सोचते हैं कि हमारे प्रभु और श्रीकिशोरीजी को कहीं प्यास न लग आयी हो। वे ऐसा क्यों पूछें कि आप लोगों को प्यास लगी है क्या? वे ऐसा बताते हैं कि उन्हें स्वयं प्यास लगी है, इसलिए कहते हैं कि जरा जल पी लिया जाय। प्रभु तब मुसकराकर लक्ष्मणजी से कहते हैं– लक्ष्मण, जाओ जल पी आओ और थोड़ा हम लोगों के लिए भी लेते आना। लक्ष्मण आज्ञा पाकर जल लेने चले जाते हैं। तब सीताजी का वात्सल्य उमड़ पड़ता है। उन्हें लक्ष्मणजी के लिए चिन्ता हो आती हैं।

अयोध्या में वनवास के लिए जाते समय भगवान् राम ने सीताजी को वन के भय दिखाते हुए कहा था– वन में तो सिंह हैं, व्याघ्र हैं, अन्य जन्तु हैं, बड़े बड़े राक्षस हैं। तब सीताजी उत्तर में बोली थीं – क्या आपको यह भाषा शोभा देती है कि आप मुझे यह कहकर डराएँ कि वन में सिंह हैं, व्याघ्र हैं? –

को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा ।
सिंघबधुहि जिमि ससक सिआरा ॥ २/६६/७

–प्रभु के साथ रहते मेरी ओर आँख उठाकर देखनेवाला कौन है। सिंह की पत्नी को क्या सियार और खरहे डरा सकते हैं? यह कहकर सीताजी ने एक मीठी चुटकी भी ले ली, कहा– अगर आप सचमुच यह अनुभव कर रहे हैं कि जंगल में बहुत भय है, तो भी आप चिन्ता न करें। क्यों, चिन्ता कैसे न करूँ, जब मैं साथ चल रहा हूँ तब ? –श्री राम ने पूछा । इसलिए कि–

प्राननाथ प्रिय देवर साथा ।
वीर धुरीन धरें धनु भाथा ॥ २/६८/१

–मेरे प्यारे देवर मेरी रक्षा को यथेष्ट हैं। जब तक लक्ष्मण साथ हैं, तब तक आप चिन्ता क्यों करते हैं ? तो एक ओर श्रीकिशोरीजी के हृदय में श्रीलक्ष्मणकी वीरता के प्रति इतना विश्वास है, और दूसरी ओर उनके प्रति ममता और वात्सल्य की ऐसी पराकाष्ठा है कि जब वे जल लेने के लिए चले गये, तो उन्हें (किशोरीजी को) चिन्ता लग जाती है। वे श्रीराम से कहती हैं –

जल को गए लक्खनु , हैं लरिका
परिखौ, पिय ! छाँह घरीक ह्वै ठाढे ।
(कबितावली, अयो. कां. १२)

–प्रियतम, लक्ष्मणजी बालक हैं, वे जल लाने गये हैं, सो कहीं छाँह में एक घड़ी खड़े होकर उनकी प्रतीक्षा कीजिए। चलते ही मत जाइए , कहीं लक्ष्मण वन का मार्ग न भूल जायें। और प्रभु मुसकराकर बैठ जाते हैं। एक काँटा लेकर पैर का काँटा निकालने लगते हैं। श्रीसीताजी कहती हैं– दीजिए, मैं निकाल दूं। प्रभु विनोद करते हैं– नहीं, नहीं, तुम्हारा

काम तो मेरे चरणों तक पहुँचाना है, जो वहाँ तक पहुँच चुका है, उसे वहाँ से दूर करना नहीं ! इसलिए तुम्हें कैसे काँटा निकालने दे सकता हूँ ? इस पर सीताजी बोलीं– तो फिर रुक जाइए, लक्ष्मण आ जायें तो निकाल देंगे। प्रभु ने कहा– नहीं, कभी ऐसी भूल न करना। मैं तो चाहता हूँ कि लक्ष्मण के आने से पहले ही काँटा निकल जाय, या फिर वह पैर में ही बिल्कुल समा जाय।

"ऐसा क्यों, महाराज ?"

"कहीं लक्ष्मण ने मेरे पैरों में काँटा देख लिया, तो पृथ्वी को ही दण्ड देने के लिए तैयार न हो जाय कि हमारे प्रभु के चरणों में काँटा क्यों लगा दिया ?"

कैसी प्रीति है लक्ष्मणजी की श्रीराम के प्रति ! प्रेम का यह विलक्षण स्वरूप है। लक्ष्मणजी प्रभु के विरुद्ध किसी को सह ही नहीं सकते। जहाँ ऐसी अनोखी प्रीति हो, वहाँ क्या फूल की सड़क प्यारी लगेगी ? जिस पथ में अनुरागरस की इतनी वर्षा हो रही हो, वहाँ क्या काँटा काँटा रह जायगा ? आप कल्पना कीजिए, क्या जनकपुर और अयोध्या में वह जल मिल सकता था, जो प्रभु के प्रेमाश्रुओं के रूप में मिला ? प्रभु जब प्रेम-भरी दृष्टि से श्री सीताजी को देखते हैं, तो उससे जो उन्हें तृप्ति प्राप्त होती है, वह क्या अयोध्या या जनकपुर के राजमहल में प्राप्त हो सकती थी? यहाँ, वन के मार्ग में, एक दूसरे के प्रति जो प्रेमपूर्ण चिन्ता की भावना है, उससे क्या वह मार्ग वन का मार्ग रह गया ? क्या काँटे, काँटे रह गये ? यदि चलना न आए, तो फूल भी शूल बन जाते हैं और यदि चलना आ जाए, तो शूल फूल बन जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो लोग फूल पर चलते समय अहंकार से गर्वीले हो जाते हैं कि

देखो, हम कितने महान् हैं, जो फूल पर चल रहे हैं, वे भले ही समझ रहे हों कि फूल पर चल रहे हैं, पर वास्तव में ऐसी कल्पना करके उन्होंने अपने पथ में अहंकार का शूल बिछा लिया और वे गिरे बिना नहीं रहेंगे। जो व्यक्ति शूलों के पथ पर चलता हुआ अनुराग, प्रीति के द्वारा फूलों के पथ में परिवर्तित कर लेता है, उसके लिये शूल फिर शूल कहाँ रह जाते हैं?

श्रीसीताजी प्रभु के चरणों में काँटे देख अचरज में पड़ गयीं। पूछ बैठीं — यह क्या? आपके चरणों में काँटे कहाँ से लग गये, जब मेरे अथवा लक्ष्मण के पैरों में तो नहीं लगे? प्रभु ने दार्शनिक समाधान प्रस्तुत कर दिया। बोले— बात यह है, लोग मुझे ज्ञान का स्वरूप मानते हैं और तुम्हें भक्ति का। तुम और हम एक ही रास्ते पर चले, पर मेरे पैरों में काँटे लगे, तुम्हारे पैरों में नहीं, इसका सीधा-सा तात्पर्य यही है कि ज्ञान का पथ कंटकाकीर्ण है, जबकि भक्ति का पथ निष्कण्टक है। लक्ष्मण तुम्हारे पीछे चल रहा था, इसलिए वह भी काँटों से बच गया।

तो, यह तीनों की वन-पथ में चलने की कला है। परस्पर के प्रति स्नेह, अनुराग और प्रीति की पराकाष्ठा है, इसलिए वन के दुःख-कष्ट, दुःख-कष्ट नहीं रह जाते।

गोस्वामीजी चलने के इस क्रम में श्रीसीताजी के चलने का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता।
धरति चरन मग चलति सभीता॥ २/१२२/५

—सीताजी भगवान् राम के दो चरणों के मध्य में अपना चरण रखती हैं। और लक्ष्मणजी कैसे चलते हैं? वे चलने के बड़े पक्के कलाकार हैं। यद्यपि वे सीताजी के पीछे पीछे चल

रहे हैं, पर बिल्कुल पीछे नहीं चलते। जैसे सीताजी श्रीराम के ठीक पीछे चल रही हैं, वैसा लक्ष्मणजी श्रीसीताजी के ठीक पीछे नहीं चलते। तो ?—

सीय राम पद अंक बराएँ।
लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ॥ २/१२२/६

—वे सीताजी और श्रीरामचन्द्रजी दोनों के चरणचिह्नों को बचाते हुए उन्हें दाहिने रखकर रास्ता चल रहे हैं। यह चलने की कला है। आगे चलनेवाले की सार्थकता इसमें है कि वह पीछे चलनेवालों का विघ्न-कष्ट स्वयं वरण कर ले। और पीछे चलना तो कोई सीताजी से सीखे। सीताजी प्रभु की दो चरण-रेखाओं के मध्य अपना चरण रखती हैं। सीताजी डरती हैं कि कहीं मेरा चरण प्रभु की चरण-रेखा पर न पड़ जाय और इस प्रकार उनकी चरण-रेखा को कहीं बिगाड़ न दे। तात्पर्य यह है कि अनुयायी को चाहिए वह इस बात का निरन्तर ध्यान रखे कि जिसके पीछे हम चल रहे हैं, कहीं उसकी मर्यादा को बिगाड़ तो नहीं रहे हैं, उसकी मर्यादा को मिटाने की चेष्टा तो नहीं कर रहे हैं। यह सीताजी के चलने की कला है।

और लक्ष्मणजी के चलने की कला तो सबसे विलक्षण है। भगवान् राम ब्रह्म हैं और श्रीसीताजी माया। किसी ने गोस्वामीजी से विनोद किया — तो इसका अभिप्राय यह है कि लक्ष्मणजी माया के पीछे पीछे चल रहे हैं ? गोस्वामीजी इसका विलक्षण उत्तर देते हैं। उनकी काव्य-शैली देखिए। कोई दूसरा साधारण वर्णनात्मक कवि होता, तो लिखता कि आगे भगवान् राम हैं, उनके पीछे श्रीसीताजी और श्रीसीताजी के पीछे लक्ष्मण। पर गोस्वामीजी कहते हैं— "आगें रामु लखनु बने पाछें" (२/१२२/१) — आगे राम

हैं और पीछे लक्ष्मण, बीच में हैं सीताजी। अब हम साधारण लोगों के लिए इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि चाहे जैसे लिख दिया जाय– चाहे लिखो कि आगे राम, उनके पीछे सीता और सीता के पीछे लक्ष्मण, अथवा लिखो आगे राम, पीछे लक्ष्मण और बीच में सीता, पर दर्शन की दृष्टि से अवश्य इसमें अन्तर पड़ जाता है कि बात कैसे लिखी गयी है। यहाँ ब्रह्म और जीव का विवेचन हो रहा है। तो, जीव ब्रह्म के पीछे चलेगा या माया के पीछे ? साधारण जीव तो माया के पीछे ही चलता है, पर लक्ष्मण जैसे जीवाचार्य के लिए गोस्वामीजी कैसे लिख सकते हैं कि वे भी माया के पीछे चल रहे हैं ? इसीलिए वे लिखते हैं कि लक्ष्मण श्रीराम के पीछे हैं।

दूसरी बात, गोस्वामीजी यह जो लिखते हैं कि लक्ष्मणजी सीताजी के ठीक पीछे नहीं चलते, बल्कि उन्हें कुछ दायें रख चलते हैं, इसका भी एक विशेष दार्शनिक संकेत है। कल्पना कीजिए यदि लक्ष्मण ठीक सीताजी के पीछे चलें, तो उससे सीताजी की पीठ ही दिखायी देगी और इस व्यवधान के कारण श्रीराम नहीं दिखायी देंगे। इसीलिए लक्ष्मणजी ने चलने की कला का प्रयोग किया। वे थोड़ा हट-कर चलते हैं, जिससे श्रीसीताजी तो दिखायी देती रहें, पर वे जिनके पीछे चल रही हैं, वे भी दिखायी देते रहें। यही संकेत है। हम संसार -पथ पर चलते हैं तो, संसार ही दिखायी देता है। लक्ष्मणजी से हमें यही सीखना है कि हम ऐसा चलें, जिससे संसार तो दिखता रहे, पर साथ ही जो संसार का बनाने वाला है, वह भी दिखाई देता रहे। तब चलने में कोई कठिनाई नहीं होती। संकट तो तब आता है, जब माया तो दिखायी देती है, पर मायापति दिखायी नहीं देता।

संसार में कुछ लोग ऐसे होते हैं, 'जे बिनु काज दाहि-

नेहु बाएँ' (१/३/१)– जो बिना ही प्रयोजन अपना हित करनेवाले के भी प्रतिकूल आचरण करते हैं। और ऐसे लोग सदैव रहेंगे। हम कहाँ तक ऐसे लोगों की चिन्ता करेंगे ? हम जीवन में सबकी अनुकूलता नहीं प्राप्त कर सकते। हम कितना भी सबके मंगल, सबके कल्याण में लगे रहें, पर कुछ लोग ऐसे अवश्य होंगे, जो हमारे बाएँ हो जाएँगे। ऐसी दशा में लक्ष्मणजी चलकर हमें भी सार्थक संकेत देते हैं, वे भगवान् को दाहिने रखकर चलते हैं– "लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ"। मानो संकेत देते हैं कि जीवो, तुम संसार के लोगों पर ध्यान न दो कि वे तुम्हारे दायें हैं या बायें; बस, यही चेष्टा करो कि भगवान् हमारे दायें हों, हमारे अनुकूल हों। बस, यही ध्यान रखो कि हमारा यह कार्य भगवान् के अनुकूल है या नहीं। जो भगवान् को दाहिने करके चलता है, उसका जीवन धन्य है।

तो, गोस्वामीजी लिखते हैं कि श्रीलक्ष्मण श्रीराम और श्रीसीताजी के चरण-चिह्नों को बचाकर चलते हैं। इसका अभिप्राय यह कि वे दोनों की मर्यादाओं को बचाकर चलते हैं। वे कभी भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। गोस्वामीजी यह भी संकेत देते हैं कि श्रीसीताजी के द्वारा लीला के लिए ही सही, एक ही बार श्रीलक्ष्मण की रेखा की मर्यादा का पालन नहीं हो पाता, फलस्वरूप उन्हें भविष्य में कितना कष्ट उठाना पड़ा, रावण के यहाँ रहना पड़ा। गोस्वामीजी बताते हैं कि रावण मोह है, जो स्वर्णमृग का प्रलोभन लेकर सीताजी के सामने आता है। सीताजी भगवान् राम से प्रार्थना करती हैं कि मुझे इस मृग का चर्म ला दीजिए। प्रभु मायामृग के पीछे जाते तो हैं, पर लक्ष्मणजी से यह कहते जाते हैं– 'सीता केरि करेहु रखवारी' (३/२६/

६)। इसका अभिप्राय यह है कि यदि वैराग्य रक्षा के लिए बैठा हो, तो मोह भक्ति को चुरा नहीं सकता। उधर मारीच जब मरते समय प्रकट रूप से लक्ष्मण का नाम पुकारता है और जब सीताजी कहती हैं कि लक्ष्मण, जाओ, तुम्हारे भैया पर संकट पड़ा है, तो लक्ष्मणजी हँसते हैं। ब्रह्म पर भी कभी संकट पड़ सकता है ? भले ही स्वयं आदिशक्ति यह बात कहें, पर मैं नहीं मानता, यह लक्ष्मणजी का भाव है। तब सीताजी ऐसे कठोर वचन कहती हैं, जिनका उल्लेख तक गोस्वामीजी को सह्य नहीं है। गोस्वामीजी के शब्द देखिए-

मरम बचन जब सीता बोला।
हरि प्रेरित लछिमन मन डोला॥ ३/२७/५

कुछ लोग इसे सुधारने का प्रयास करते हैं। कहते हैं, शब्द यों होने चाहिए थे—

मरम बचन जब सीता बोली।
हरि प्रेरित लछिमन मति डोली॥

पर ऐसी बात नहीं है। तुलसीदास जी को व्याकरण का ज्ञान था। उनका अभिप्राय यह है कि श्रीसीताजी बोलीं नहीं, वरन् उनके द्वारा बुलवाया गया। आगे चलकर किशोरीजी इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार भी करती हैं। वे उस स्थिति का स्मरण करके कहती हैं—

जेहि बिधि मोहि दुख दुसह सहाए।
लछिमन कहुँ कटु बचन कहाए॥ ६/९८/८

—जिस विधाता ने मुझसे दुःसह दुःख सहन कराये और लक्ष्मण को कड़ुवे वचन कहलाये। अभिप्राय यह कि श्रीसीताजी के द्वारा कटु वचन कहलवाया गया। और जब लक्ष्मणजी जाने लगे, तो उन्होंने कुटिया के बाहर एक रेखा खींच दी। इसका तात्पर्य यह है कि यदि जीवन में पूर्ण वैराग्य न

सही, वैराग्य की एक रेखा भी विद्यमान हो, तो मोह के द्वारा भक्ति का अपहरण असम्भव है।

जब रावण कपट-वेष में आता है, तो अपने को उस वैराग्य की रेखा को पार करने में असमर्थ पाता है। तब वह श्री सीताजी से प्रश्न करता है – तुम इस रेखा को पार क्यों नहीं करती हो? सीताजी कहती हैं– इसे मेरे देवर ने खींचा है, इसलिए इसका सन्मान करूँगी। इस पर रावण हँसता है और कहता है – यह तो उल्टी बात हो गयी ! यह ठीक है कि छोटों का कर्तव्य है बड़ों की मर्यादा का पालन करना, पर बड़ों को छोटा बाँधे, यह कहाँ तक उचित है? सीताजी मोह के इस तर्क से प्रभावित हो उस रेखा का उल्लंघन कर बैठती हैं और परिणाम होता है वियोग और दुःख। जिसने तेरह वर्ष तक उनकी मर्यादा का पालन किया, उस लक्ष्मण की रेखा का पालन सीताजी एक क्षण के लिए भी न कर सकीं ! फल होता है कि भक्ति ज्ञान से अलग हो जाती है, शक्ति ब्रह्म से बिछुड़ जाती है। यही हमारे जीवन की भी कहानी है। अतएव यदि हम अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो हमें अपने जीवन में लक्ष्मणजी के रूप में वैराग्य की एक रेखा अवश्य रखनी चाहिए, जिसका लंघन हम न करें। हम यह ठान लें कि मोह की तृप्ति बस यहीं तक करेंगे, इसके आगे नहीं।

भगवान् अनन्त हैं और उनकी कथा भी अनन्त है। भगवान् राम का अवतार ही लोक-कल्याण के लिए होता है और उनके इस कार्य में सहायक के रूप में श्री लक्ष्मण उस दण्ड के समान हैं, जो पताका को फहराने के लिए समर्पित है। गोस्वामीजी की मान्यता है कि राम की कीर्ति- पताका इस लक्ष्मण-दण्ड के अभाव में नहीं फहरा सकती। अपने त्यागऔर समर्पण के कारण श्रीलक्ष्मण का चरित्र 'मानस' में अप्रतिम है।

●

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर एम. ए.

(१) जठरे धारयाम्यहम्

महामुनि व्यास को यमुना नदी के उस पार जाना था और वे नाव की प्रतीक्षा कर रहे थे कि इतने में वहाँ गोपियाँ आ पहुँचीं। काफी समय तक प्रतीक्षा करने के बाद भी जब कोई नाव न आयी, तो निराश हो गोपियों ने व्यासदेव से पूछा, "महाराज, नाव तो कोई आ नहीं रही है। अब क्या किया जाए?" व्यासदेव ने कहा, "चिन्ता न करो, मैं तुम लोगों को नदी पार करा दूंगा। मगर नाव की प्रतीक्षा करते करते मैं थक गया हूँ और मुझे भूख लगी है। क्या तुम लोग कुछ दे सकती हो?" गोपियों के पास ताजा दूध, मलाई, मक्खन था, जिसमें से कुछ उन्होंने महामुनि को दिया। गोपियों ने जब देखा कि व्यासदेव ने दूध-मक्खन तो खा लिया, लेकिन पार करने के बारे में वे कुछ भी बोल नहीं रहे हैं, तब वे उनसे बोलीं, "महाराज, नदी पार करने का क्या हुआ?" व्यासदेव थोड़ा आगे गये और हाथ जोड़ उन्होंने नदी से प्रार्थना की, "यमुने! यदि आज मैंने कुछ खाया न हो, तो इसके बल पर तुम जल को दो भागों में विभक्त करो, जिससे हम लोग उस पार जा सकें।" ज्योंही उन्होंने ऐसा कहा, नदी दो भागों में विभाजित हो गयी और बीच में सूखा किनारा बिछ गया। यह देख गोपियाँ चकित हो गयीं। और मन ही मन सोचने लगीं कि थोड़ी देर पहले ही तो इन्होंने हमसे दूध-मक्खन माँगकर खाया था और अब कह रहे हैं कि कुछ नहीं खाया। यमुना को भी उनके कथन पर विश्वास हो गया! आखिर उन्होंने व्यासदेव से इसका

रहस्य पूछ ही लिया।

महामुनि ने कहा "आप लोगों ने मुझे दूध, मक्खन, मलाई अवश्य दी थी, किन्तु उसे मैंने नहीं, मेरे हृदय में अवस्थित भगवान् ने खाया था। मनुष्य कर्म तो करता है, पर वह इस कर्म को ब्रह्मार्पित बुद्धि से नहीं करता। यदि वह ऐसा करे, तो कर्मों का बन्धन नहीं रहेगा और कर्म करके भी वह कर्म-रहित रहेगा। इसके लिए दृढ़ विश्वास की बड़ी आवश्यकता है। आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए, साधना भी आवश्यक है। यदि दृढ़ विश्वास हो, तो थोड़ी साधना से ही काम चल सकता है।

(२) जो करै भगति भगवान् की

एक बार नारदमुनि को घमण्ड हो गया कि वे जितने निःस्वार्थ भाव से भगवान् की भक्ति करते हैं, उतना शायद ही कोई करता होगा; अन्य लोगों का उद्देश्य तो इच्छित वस्तु को प्राप्त करना होता है। भगवान् ने नारदके मन की बात भाँप ली और वे नारद के पास आकर बोले, "मेरा एक प्रिय भक्त अमुक स्थान पर रहता है। यदि तुम उससे मिलो तो तुम्हारा उससे परिचय हो जाएगा।"

नारदजी जब निर्दिष्ट स्थान पर गये, तो वहाँ उन्हें एक किसान दिखायी दिया। वे उससे मिले और उसके दैनन्दिन कार्यक्रम का अवलोकन करने लगे। नारद ने देखा कि उस किसान ने हरि-नाम लिया और वह हल लेकर खेत में जुट गया। वह दिन भर काम करता रहा और रात्रि को सोने से पूर्व एक बार फिर हरि का नाम लेकर निद्राधीन हो गया। यह देख नारद सोचने लगे, "इस गँवार किसान ने दिन में केवल दो बार भगवन्नाम लिया और प्रभु कहते हैं

कि यह मेरा प्रिय भक्त है। यह तो मुझे सांसारिक कर्मों में ही लिप्त दिखायी दिया।"

नारदजी तुरन्त भगवान् के पास गये और उन्होंने उस किसान के बारे में अपने विचार व्यक्त किये। इस पर भगवान् बोले, "नारद, अच्छा हुआ! तुम आ गये। मेरा एक काम है। तुम तेल-भरे इस कटोरे को ले नगर में चारों ओर घूमकर ज्यों का त्यों ले आओ। ध्यान रहे, इसकी एक बूंद भी धरती पर गिरने न पाये।"

नारद जब लौटकर आए, तब भगवान् ने पूछा, "नारद, जरा बतलाओ तो, तुम जब परिक्रमा लगा रहे थे, तब तुमने कितनी बार मेरा स्मरण किया था?" "एक बार भी नहीं," नारद ने उत्तर दिया, "क्योंकि मेरा सारा ध्यान तेल के कटोरे की ओर लगा हुआ था।" इस पर भगवान् बोले, "देखो, तेल-भरे एक कटोरे ने तुम्हें मुझसे विमुख कर दिया, जबकि यह किसान अपने परिवार का भरण-पोषण करते हुए भी प्रतिदिन नियमित रूप से दो बार मेरा स्मरण करता है। क्या वह मेरा प्रिय भक्त न हुआ?" और यह सुन नारदजी लज्जित हो गये।

(३) ज्ञानी जगत् में रहत, लिप्तमान होत नाहिं

एक बार सारस्वत प्रदेश में घोर दुर्भिक्ष पड़ा। लोग पेट की आग बुझाने अपनी जन्म भूमि को छोड़ अन्यत्र जाकर बसने लगे। पास ही सप्तर्षियों का आश्रम था। वे भी आश्रम छोड़ने के लिए विवश हुए।

कई दिनों की यात्रा के पश्चात् वे विदर्भ पहुँचे। राजा वृषादर्भि को जब पता चला कि ब्रह्मज्योति की अखण्ड साधना में जीवन-यापन करने वाले सप्तर्षियों का राजधानी

में आगमन हुआ है, तो उसने उनसे निवास करने की प्रार्थना की, किन्तु उन्होंने विनम्र स्वर में कहा, "राजन्! हम तो वनवासी ठहरे ! गृहस्थ जीवन से हम दूर रहते हैं। शास्त्रों में वर्णित होने के कारण हम आपका दान ग्रहण करने में असमर्थ हैं।" विदर्भराज द्वारा काफी अनुनय-विनय करने के बावजूद जब उन्होंने प्रार्थना स्वीकार न की, तो उसे क्रोध आ गया और वह उनका अपमान करने के बारे में सोचने लगा। एक मंत्री ने राजा को सलाह दी, "महाराज ! आप इन ऋषियों के मार्ग में गूलर के फलों में सुवर्ण भरकर बिखेर दें। कन्दमूल खाकर जीवन-यापन करने वाले ये ऋषि निश्चय ही इन फलों को ग्रहण करेंगे। इससे उनके द्वारा संचित पुण्यों का ह्रास हो जाएगा।"

विदर्भराज ने वैसा ही किया। महर्षि अत्रि को जब एक फल दिखायी दिया, तो उन्होंने उसे उठाया, किंतु भारी लगने पर वे वसिष्ठ मुनि से बोले, "इसमें तो सुवर्ण भरा दिखायी देता है। मालूम होता है, हमारी परीक्षा ली जा रही है। ज्योंही उन्होंने वह फल फेंका, उसमें से निकला सुवर्ण चमकने लगा। वे लोग उस ओर ध्यान न देते हुए आगे बढ़ गए।

अब तो विदर्भराज और भी क्रोधित हो गया। वह उन्हें तंग करने की दूसरी युक्ति सोचने लगा। आगे चलने पर सप्तर्षियों को एक युवा परिव्राजक दिखायी दिया। उसने उन्हें प्रणाम करके कहा, "देव! क्या आप मेरी कुछ शंकाओं का समाधान करेंगे ? कृपया बताइए कि सर्वश्रेष्ठ धर्म क्या है ?"

महर्षि कश्यप ने उत्तर दिया, "सौम्य! इस पृथ्वी पर दान, दया और कर्म– ये तीन सर्वश्रेष्ठ धर्म हैं और इनका आचरण करने वालों को सांसारिक यातनाएँ नहीं सतातीं"।

परिव्राजक ने पुनः पूछा, "ऋषिवृन्द ! क्या वेदाध्ययन करने वालों के लिए भी इनका पालन करना आवश्यक है ?" महर्षि अंगिरा ने उत्तर दिया, "द्विज-श्रेष्ठ! केवल वेदाध्ययन में लीन रहने से कुछ नहीं होता। मुक्ति उसे ही प्राप्त होती है, जो तदनुरूप आचरण करता है।"

सन्तुष्ट हो परिव्राजक ने कहा, "महर्षि ! अब मुझे धर्म का सार बताएँ।" महर्षि वसिष्ठ बोले, "सारे धर्मों का सार यह है कि जो बात स्वयं को अच्छी न लगे, उसका आचरण दूसरों के लिए भी नहीं करना चाहिए। जो व्यक्ति परायी स्त्री को अपनी माता के समान पूजनीय मानता है, परधन को मिट्टी के समान तुच्छ और संसार के सभी जीवों को अपने समान देखता है, वह वास्तव में सभी धर्मों की शिक्षा का आचरण करता है।"

यह सुन परिव्राजक सन्तुष्ट हो गया। इतने में सप्तर्षियों का ध्यान पास के सरोवर के मृणालों की ओर गया। वे उन्हें निकालने के लिए बढ़े, तो वहाँ एक राक्षसी प्रकट हुई और वह उन्हें तंग करने लगी। इस राक्षसी को विदर्भराज ने भेजा था। परिव्राजक कुछ देर तक तो देखता रहा, बाद में उसने ज्योंही उस ओर अपना दण्ड उठाया, राक्षसी का सिर धड़ से अलग हो गया। जब सप्तर्षियों ने परिव्राजक की ओर देखा, तो वहाँ उन्हें देवराज इन्द्र दिखायी दिए।

देवेन्द्र ने उनसे कहा, "ऋषिवृन्द ! आप धन्य हैं। आपने सचमुच लोभ, क्रोध, मोह एवं दुर्भावना पर नियंत्रण पाया है। मैं आपको वरदान देता हूँ कि आपको भूख, प्यास और सांसारिक पीड़ाएँ कभी नहीं सताएँगी और आपके स्मरण मात्र से मानवजाति अनन्तकाल तक प्रेरणा ग्रहण करती रहेगी।"

(४) अनासक्ताः सुखिनो भवन्ति

सम्राट् पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ जब सानन्द सम्पन्न हुआ, तो उन्होंने दूसरी रात अतिथियों के मनोरंजन हेतु नृत्योत्सव का आयोजन किया। महर्षि पतजंलि जब इस उत्सव में सम्मिलित हुए, तो उनके शिष्य चैत्र को बुरा लगा, किन्तु उस समय वह चुप रहा। लेकिन एक दिन जब महर्षि योगदर्शन पढ़ा रहे थे, तो उसने उपालम्भपूर्वक पूछा, "गुरुवर ! क्या नृत्य-गीत के रस-रंग चित्तवृत्तियों के निरोध में सहायक होते हैं ?"

महर्षि ने शिष्य के प्रश्न का अभिप्राय जान लिया। उन्होंने कहा, "सौम्य! आत्मा का स्वरूप रसमय है। रस में उसे आनन्द मिलता है और तृप्ति भी। वह रस विकृत न होने पाये और अपने शुद्ध स्वरूप में बना रहे, इस प्रकार की सावधानी बरतने का नाम 'संयम' है। विकार की आशंका से रस का परित्याग कर देना उचित नहीं। क्या कोई कृषक पशुओं द्वारा खेत चर लिए जाने के भय से कृषि कर्म छोड़ देता है ? यह संयम नहीं, पलायन हुआ। जीवन को रसरहित बनाकर किया गया संयम-प्रयत्न ऐसा ही है, जैसे जल को तरलता और अग्नि को ऊष्मा से वंचित करना। इसलिए हे भद्र ! भ्रम मत करो, रस को नहीं, उसकी विकृति को ही हेय मानो।"

(५) शीलवन्त सबसे बड़ा

एक बार महर्षि बोधायन शिष्यों के अनुरोध पर आश्रम से दूर, नदी के तट पर गये। गुरु-शिष्य मछलियों की तरह घण्टों तक जल-विहार करते रहे। बाद में भोजनोपरांत

अपने अपने उत्तरीय फैलाकर वे लेट गए। शीघ्र ही निद्रा-देवी ने सबको सम्मोहावस्था में पहुँचा दिया। प्रातः तड़के जब महर्षि की निद्रा भंग हुई तो वे उठे और उन्होंने समीप, ही वृक्ष के पास सोये अपने प्रिय शिष्य गार्ग्य को जगाना चाहा। वे जब उसके पास गए, तो उन्होंने देखा कि गार्ग्य जाग रहा है और उसके पैरों से लिपटकर एक महासर्प सोया पड़ा है। गार्ग्य ने धीरे से कहा, "गुरुजी! आप चिन्ता न करें। जब सर्प की नींद पूरी हो जाएगी, वह स्वयं चला जाएगा; उसकी निद्रा भंग न करें।" हुआ भी ऐसा ही। घण्टा भर बाद सर्प जागा और गार्ग्य के पैरों से अलग हो चुपचाप अपने बिल में प्रविष्ट हो गया।

यह देख महर्षि बड़े प्रसन्न हुए और गार्ग्य को अंक में भरकर उन्होंने आशीर्वाद दिया, "वत्स, तुम्हारी यह शील-सम्पदा अक्षय रहे।" एक शिष्य मैत्रायण ने जब यह सुना तो चकित हो वह बोला "भगवन्! गार्ग्य ने अदम्य साहस का परिचय दिया है, शील का नहीं।" महर्षि मुस-कराकर बोले "वत्स, जल का ही तो घनीभूत रूप हिम है। इसी तरह शील का वह घनीभूत रूप, जो विकट विषमताओं और विपरीतताओं के बीच भी अपने स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखता है, साहस है। इसलिए महिमा उसके शील की ही है।"

●

शान्ति की प्राप्ति

(गीता अध्याय २, श्लोक ६९-७२)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

सर्वभूतानां (समस्त प्राणियों के लिए) या (जो) (अवस्था) निशा (रात्रि या अंधकार-स्वरूप है) तस्यां (उसमें) संयमी (जितेन्द्रिय व्यक्ति) जागर्ति (जागता रहता है) यस्यां (जिस (अवस्था) में) भूतानि (साधारण प्राणी) जाग्रति (जागते रहते हैं) पश्यतः (आत्मा को) (देखने वाले) मुनेः (योगी के लिए) सा (वह) निशा (रात्रि या अन्धकार-स्वरूप है) ।

"समस्त प्राणियों के लिए जो अवस्था रात्रि या अन्धकार-स्वरूप है, उस अवस्था में जितेन्द्रिय व्यक्ति जागता रहता है । और जिस अवस्था में साधारण प्राणी जागते रहते हैं, आत्मदर्शी योगी के लिए वह अवस्था रात्रि या अन्धकार-स्वरूप है ।"

पिछले पद्यों में यह प्रदर्शित हुआ कि बुद्धि कैसे स्थिर, प्रतिष्ठित होती है । बुद्धि के चंचल रहते मनुष्य का मन कभी शान्त नहीं हो सकता और अशान्त मन कभी सुख का अनुभव नहीं कर सकता । अतः संसार में सुख पाने के लिए मन का शान्त और स्थिर होना अनिवार्य है । इसलिए इन्द्रियों के निग्रह की बात कही गयी, क्योंकि यदि इन्द्रियाँ अनियंत्रित हों, तब तो बुद्धि और मन को स्थिर करना कठिन ही नहीं,

असम्भव है। प्रस्तुत पद्य में स्थितप्रज्ञ और सामान्य व्यक्ति का अन्तर बतलाया गया है।

'कठोपनिषद्' में एक सुन्दर उपमा दी गयी है। कहा गया है –

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ १/३/३-४

–'आत्मा को रथी समझो, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि जानो और मन को लगाम। विवेकी पुरुष इन्द्रियों को घोड़े बतलाते हैं और विषयों को उनके मार्ग कहते हैं तथा शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को भोक्ता कहते हैं।' तो जैसे सवार रथ में बैठता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी शरीर-रूप रथ पर सवार है। जैसे हाँकनेवाले सारथि लगाम से घोड़ों को नियंत्रित करता हुआ रथ को मार्ग पर से लक्ष्य की ओर ले चलता है, उसी प्रकार बुद्धिरूप सारथि मन की लगाम से इन्द्रियरूप घोड़ों को नियंत्रित करता हुआ शरीररूप रथ को विषयों के मार्ग पर दौड़ाया करता है। यदि घोड़े अनियंत्रित हो गये और लगाम कमजोर पड़ गयी, तो घोड़े अपनी इच्छा के अनुसार रथ को ले भागते हैं और इस प्रकार सवार की दुर्दशा कर देते हैं। यदि हम चाहते हैं कि रथ लक्ष्य पर पहुँचे, तो सबसे पहले सवार को दृढ़ निश्चयी होना पड़ेगा, उसे जागते रहना होगा और दृढ़तापूर्वक सारथि को सही मार्ग पर चलने को बाध्य करना पड़ेगा। सवार ऐसा हो, जो सारथि पर अपना स्वामित्व प्रकट कर सके। वह सवार किस काम का, जो सारथि पर अपना प्रभुत्व न जमा सके ?

फिर, सारथि ऐसा हो, जो अपने मालिक सवार के कहने में चले। उसे इतना बली होना चाहिए कि गलत रास्ते पर रथ को ले जाने वाले घोड़ों को बलपूर्वक खींचकर सही रास्ते पर ले चले। साथ ही लगाम भी मजबूत हो। यदि लगाम ही कमजोर पड़ जाय, तो सारथि कैसे घोड़ों का नियंत्रण करेगा ? अतः लगामरूप मन दृढ़ हो।

फिर, यदि घोड़े मरियल हों, तब भी लक्ष्य पर पहुँचना कठिन ही होगा। साथ ही यदि रथ ही जीर्ण-शीर्ण हो, तब वह कैसे सवार को लक्ष्य तक पहुँचा सकेगा ? अतएव सफल यात्रा के लिए रथ, घोड़े, लगाम, सारथि और सवार इन पाँचों का तगड़ा होना जरूरी है। इसी प्रकार जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए साधक का शरीर बली हो, इन्द्रियाँ भी तेज से युक्त हों, मन दृढ़ हो, बुद्धि विवेक से युक्त हो और आत्मा जाग्रत हो। ऐसा व्यक्ति 'संयमी' कहलाता है। संयमी के इन्द्रियरूप घोड़े शरीररूप रथ को विषयों के मार्ग पर नहीं दौड़ाते, अपितु वे सत्य-स्वरूप आत्मा के साक्षात्कार के मार्ग पर उसे खींचकर ले जाते हैं। यह बात साधारण संसारी व्यक्ति समझ नहीं पाता, उसे यही नहीं समझता कि सत्य क्या है। आत्मा आदि की बात उसे अँधेरे में टटोलने-जैसी मालूम पड़ती है। जहाँ सत्संग होता हो, वहाँ उसे कोई रुचि नहीं मालूम पड़ती, उसे नीरस समझकर वह उससे दूर ही रहना चाहता है। दूसरी ओर, संयमी व्यक्ति को सांसारिक चर्चा में कोई रस नहीं आता, वह समझ नहीं पाता कि संसार के लोग नाशवान् पदार्थों को पाने के लिए इतनी खटपट क्यों करते हैं। यदि कोई उसे संसार की उपादेयता समझाना चाहे, तो वह कुछ उसे समझ में नहीं आती, बल्कि वह तो संसार में शून्य ही देखता है। इसीलिए

प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि जिसमें संसार के लोग अँधेरा देखते हैं, वहाँ संयमी प्रकाश देखता है। जिस अवस्था को रात्रि मान, समझ से परे मान संसारी व्यक्ति सो जाता है, वहाँ संयमी दिन का उजाला देखता हुआ जागता रहता है। दूसरी ओर, जो सारे प्राणियों के लिए दिन है, मन की जिस अवस्था में संसार के लोग सतत इधर उधर भागते रहते हैं, वह संन्यासी के लिए स्वप्नवत् है, उसमें वह रात्रि का-सा अंधकार ही देखता है।

इसे यों भी समझा जा सकता है। सुषुप्ति और समाधि में सोने और जागने का अन्तर है। सुषुप्ति यानी गहरी नींद में इन्द्रियों और मन के अपने कारण में कुछ देर के लिए लीन हो जाने पर जिस आनन्द की अनुभूति होती है, वैसा ही आनन्द समाधि की अवस्था में इन्द्रियों और मन के स्व-स्वरूप में स्थित हो जाने से प्राप्त होता है। पर अन्तर यही है कि सुषुप्ति के आनन्द को जागते जागते, चेतनायुक्त हो नहीं लिया जा सकता, जबकि समाधि के, तुरीय के आनन्द का पूरी चेतना के साथ अनुभव किया जाता है। सुषुप्ति के आनन्द की झलक हमें नींद से जागने पर मिलती है, हम कहते हैं कि 'आज तो मैं खूब सुख की नींद सोया', पर सुषुप्ति में उसका तनिक भी भान हमें नहीं रहता, जबकि समाधि का आनन्द उसी अवस्था में अनुभवनीय है। यह वैसा ही है, जैसे बच्चा अपनी निष्पापता को समझ नहीं पाता और फलस्वरूप उसका आनन्द नहीं ले पाता, जबकि ज्ञानी अपनी निष्पापता को समझता है और इसलिए उसका आनन्द लेता है। निष्पापता बच्चे के लिए सहज अनुभूति है, अर्जित अनुभूति नहीं। उम्र पाकर सहज अनुभूति नष्ट हो जाती है और बच्चा बड़ा होकर अपने संस्कारों की भयावहता

देखता है। पर ज्ञानी ने साधना के द्वारा संस्कारों की भयावहता को नष्ट कर दिया है और निष्पापता अर्जित की है। इसलिए वह निष्पापता के आनन्द का भरपूर अनुभव करता है। तो सामान्य व्यक्ति के लिए जो निद्रा है, वह संयमी के लिए, स्थितप्रज्ञ के लिए चेतना है। और जो संसार सामान्य व्यक्ति, को सत्य दिखायी देता है, वह आत्मद्रष्टा मुनि को स्वप्नवत् भासता है। अर्थात् जो सामान्य व्यक्ति के लिए दिन है, वह संयमी के लिए रात्रि है, क्योंकि स्वप्न सोने पर ही दिखायी देता है। दूसरे शब्दों में कहें, तो सामान्य जन आत्मा में सोये हुए हैं, जबकि संयमी उसमें जाग रहा है तथा संसार में सामान्य जन जाग रहे हैं तो संयमी उसमें सो रहा है। संसारियों के लिए आत्मा रात्रि है, जबकि संयमी के लिए दिन और संसारियों के लिए विषय-भोग दिन है, जबकि संयमी के लिए रात्रि।

पद्य के दूसरे भाग में संयमी के लिए 'पश्यतो मुनेः' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो सूचित करता है कि संयमी साधक नहीं, बल्कि सिद्ध है। एक संयमी वह होता है, जो संयम का पाठ सीख रहा है और दूसरा वह होता है, जिसका संयम ज्ञान के फलस्वरूप सहज हो गया होता है। जैसे, दो साधकों ने रास्ते में चाँदी पड़ी देखी। एक अपने लोभ को दूर करने के लिए तरह तरह के वैराग्यपूर्ण विचार मन में उठा रहा है और दूसरा जानता है कि वह चाँदी नहीं, सीपी है, फलस्वरूप उसके मन में लोभ उठता ही नहीं। उसी प्रकार एक संयमी वह है, जिसके लिए संसार सत्य तो प्रतीत हो रहा है, पर जो अपने मन में तरह तरह के विचार उठाकर संसार से अलेप रहने की चेष्टा कर रहा है, और दूसरा संयमी वह है, जिसने आत्मदर्शन के फलस्वरूप संसार को स्वप्नवत

समझ लिया है, इसलिए जो संसार से लिप्त ही नहीं होता। सपने से भी क्या कभी कोई लिप्त होता है ? तो, यहाँ पर 'पश्यतो मुनेः' कहकर इस दूसरे प्रकार के आत्मद्रष्टा संयमी मुनि की ही बात सूचित हुई है।

ऐसे जो आत्मा को देखने वाले मुनि होते हैं, वे किस प्रकार होते हैं यह अगले श्लोक में प्रदर्शित हुआ है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

यद्वत् (जिस प्रकार) आपः (जल) आपूर्यमाणम् (सब ओर से पूर्ण होते रहनेवाले) अचल प्रतिष्ठं (अचल भाव से स्थित) समुद्रं (समुद्र में) प्रविशन्ति (प्रवेश करते हैं) तद्वत् (उसी प्रकार) सर्वे (समस्त) कामाः (कामनाएँ) यं (जिस (पुरूष) में) प्रविशन्ति (प्रवेश करती हैं) सः (वह) शान्तिम् (शान्ति को) आप्नोति (प्राप्त करता है) कामकामी (विषयों की कामना करने वाला) न (नहीं)।

"जैसे सभी ओर से जल से भरते रहनेवाले (फिर भी) अचल भाव से स्थित सागर में नदियाँ (बिना सागर को उद्वेलित किये ही) प्रवेश कर जाती हैं, उसी प्रकार जिस (पुरुष) में सारी कामनाएँ प्रवेश कर जाती हैं, वही शान्ति को प्राप्त करता है, भोगों को चाहनेवाला (शान्ति) नहीं (पाता)।"

आत्मद्रष्टा मुनि सागर के समान धीर और शान्त होता है। जैसे सागर में बहुतेरी नदियां सतत अपना जल ढालती रहती हैं, फिर भी वह उद्वेलित नहीं होता, अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता, वैसे ही यह आत्मद्रष्टा मुनि

होता है। कामनाएँ उसके समक्ष आती तो हैं, पर सागर में नदियों के जल के समान चुपचाप बिना उसमें किसी भी प्रकार का विक्षोभ उत्पन्न किये समा जाती हैं। कितनी भी वर्षा हो, बाढ़ से भरी नदियाँ अपना कितना भी जल सागर में ढालती हों, पर सागर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह अपनी मर्यादा को नहीं तोड़ता। वह उसी प्रकार शान्त और गम्भीर बना रहता है। देखने पर पता ही नहीं चलता कि इतना जल सागर में प्रवेश कर रहा है। सागर में तनिक भी विक्षोभ नहीं दिखायी पड़ता। उसी प्रकार जिस व्यक्ति में कामनाएँ कोई विक्षोभ पैदा नहीं कर पातीं, वही शान्ति का अधिकारी होता है। भोगों की चाह रखनेवाला कामकामी व्यक्ति कभी शान्ति नहीं पा सकता।

शान्ति मन की वह अवस्था है, जब मन विक्षेपशून्य होकर स्थिर हो जाता है। जब भी मन की स्थिरता साधित होती है, हम शान्ति का अनुभव करते हैं। जैसे हम पहाड़ों पर गये। वहाँ के नैसर्गिक दृश्यों को देखकर मन कुछ समय के लिए अपनी चंचलता को खो बैठता है, फलतः शान्ति का अनुभव करता है। हम कहते हैं कि 'पहाड़ों में बड़ी शांति का अनुभव मिला'। इसका मतलब यह नहीं कि शान्ति पहाड़ों में रहती हो, शान्ति तो अपने ही मन में छिपी है। मन की चंचलता के कारण हम उसका अनुभव नहीं कर पाते। पर ज्योंही किन्हीं कारणों से मन की चंचलता कुछ दूर होती है, त्योंही मन में छिपी शान्ति प्रकट हो जाती है। इसका प्रमाण यह है कि पहाड़ों में शान्ति प्राप्त करने वाले लोग जब कुछ दिन तक लगातार पहाड़ों में रहते हैं, तो पहले-पहल जसी शान्ति का उन्होंने अनुभव किया था, वैसी शान्ति का अनुभव उन्हें बाद में नहीं होता। इसक मतलब यह है कि अब

वे ही नैसर्गिक दृश्य पुराने पड़ जाने के कारण मन को अपनी ओर उतना खींच नहीं पाते हैं ।

जैसे हम किसी महात्मा के पास गये। कुछ समय उनके सान्निध्य में बिताया। बड़ा अच्छा लगता है, बड़ी शान्ति मिलती है। पर जब दूसरी बार उनके पास जाते हैं, तो वैसी शान्ति फिर नहीं मिलती। या पहली ही बार यदि कुछ अधिक समय तक उनके साथ रह गए, तो मन अपनी पूर्व दशा में आ जाता है।

यह नवीनता का आकर्षण है। मन को जब भी कोई नया पदार्थ प्राप्त होता है, वह कुछ समय के लिए उसमें लग जाता है। फलस्वरूप हमें शान्ति का अनुभव होता है। पर कुछ समय बाद ज्योंही वह पदार्थ पुराना पड़ जाता है, मन नवीनता का आकर्षण खो बैठता है और दूसरा कोई नया परिवेश प्राप्त करना चाहता है। यह छोटे बच्चों की-सी अवस्था है। किसी नयी चीज को पाकर रोता हुआ बच्चा चुप तो हो जाता है, पर अधिक समय तक के लिए नहीं। थोड़ी ही देर में उस वस्तु के प्रति उस बच्चे का आकर्षण समाप्त हो जाता है और वह फिर से रोने लगता है। ठीक इसी प्रकार हमारा मन है। वह सतत नये नये भोग चाहता है, उसमें निरंतर नयी नयी कामनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। इसी को यहाँ पर 'कामकामी' कहा है। उसे कभी शान्ति नहीं प्राप्त होती। किसी कामना के भोग में भले ही क्षणिक शान्ति का वह अनुभव करे, पर वह सही अर्थों में शान्ति नहीं है, वह तो रोते हुए छोटे बच्चे का कुछ समय के लिए चुप हो जाने के समान है।

तो, प्रस्तुत श्लोक में शांति का उपाय प्रदर्शित हुआ है। अपने अन्तःकरण को इस प्रकार बना लो कि कामनाएँ

उसमें किसी प्रकार का क्षोभ उत्पन्न न कर सकें और वे चुप-चाप उसमें समा जायें। यदि हम किसी नदी के मुहाने को देखें, जहाँ पर वह सागर से मिलित होती है, तो हम आश्चर्य से गड़कर देखेंगे कि समुद्र में किसी प्रकार के क्षोभ का पता तक नहीं चलता। समुद्र की अचल प्रतिष्ठा में किसी प्रकार का विचलन नहीं होता। हम समुद्र के समान धीर और गम्भीर बनें, कामनाओं को चुपचाप अपने में लीन करना सीखें। यह तभी हो सकता है, जब हम स्थितप्रज्ञता के लक्षणों को साधना के द्वारा अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करें।

कुछ लोग इसे जीवन्मुक्ति की अवस्था मानते हैं। पर वस्तुतः जीवन्मुक्ति की अवस्था में व्यक्ति के अन्तःकरण में कोई कामना उत्पन्न ही नहीं होती। विवेच्य अवस्था जीव-मुक्ति से एक सीढ़ी नीचे है, जहाँ कामनाएँ उत्पन्न तो होती हैं, पर उसके अन्तःकरण पर बिना कोई दाग लगाये उसमें समा जाती हैं। अगले श्लोक में जीवन्मुक्ति की अवस्था निरूपित हुई है, जहाँ कामना, स्पृहा, ममत्व और अहंकार का एकदम अभाव प्रदर्शित हुआ है।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

यः (जो) पुमान् (पुरुष) सर्वान् (समस्त) कामान् (कामनाओं को) विहाय (छोड़कर) निःस्पृहः (स्पृहा से रहित हो) निर्ममः (ममता से रहित हो) निरहंकारः (अहंकार से रहित हो) चरति (व्यवहार करता है) सः (वह) शान्तिम् (शान्ति को) अधिगच्छति (प्राप्त होता है)।

"जो पुरुष समस्त कामनाओं को छोड़कर स्पृहा, ममता और अहंकार से रहित हो व्यवहार करता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है।"

यह जीवन्मुक्ति की अवस्था है। इसमें आरूढ़ होने पर पुरुष समस्त कामनाओं का त्याग कर देता है। वह स्पृहा से सर्वथा रहित हो जाता है। किसी वस्तु को प्राप्त करने की उसमें अभिलाषा नहीं रह जाती। जब तक किसी वस्तु के प्रति उपादेयता का बोध रहे, तब तक उसे पाने की लालसा होती है। इस पुरुष के अन्तःकरण में संसार की वस्तुओं के प्रति उपादेयता का कोई बोध नहीं होता। जैसे सीपी को जाननेवाला व्यक्ति उसकी चाँदी की-सी चमक से भ्रमित नहीं होता, उसी प्रकार यह जीवन्मुक्त भी संसार की वस्तुओं की चमक से भ्रमित नहीं होता। वह जानता है कि यह चमक उस आत्मवस्तु की ही है। वह रग रग में 'कठोपनिषद्' के ऋषि की नाईं अनुभव करता है कि–

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ २/२/१५

–वहाँ, उस आत्मलोक में, सूर्य प्रकाशित नहीं होता, चन्द्रमा और तारे भी नहीं चमकते और न यह विद्युत ही चमचमाती है; फिर इस अग्नि की तो बात ही क्या है? उसके प्रकाशमान होते हुए ही सब कुछ प्रकाशित होता है और उसकी चमक से ही यह सब कुछ भासता है।

जो संसार के समस्त पदार्थों में आत्मा की ही चमक देखे, वह उन पदार्थों से कैसे भ्रमित हो सकता है? उसे आत्मवस्तु के अलावे और कोई वस्तु स्पृहणीय नहीं मालूम पड़ती। 'स्पृहा' कहते हैं लगाव को। कोई पदार्थ या व्यक्ति हमारी बिना इच्छा के हमसे आकर युक्त हो गया। उसके प्रति भी लगाव उत्पन्न न हो। जैसे, हम यात्रा में मित्र बना

लेते हैं। यदि लगाव पैदा हो गया, तो वह दुःखदायी होता है। रेलगाड़ी में जा रहे हैं। साथ के यात्रियों से परिचय हो गया। खूब घुल-मिल गये। पर जब स्टेशन आया, तो बेलाग उतर भी गये। उसी प्रकार यह भाव रहे कि यह जीवन भी एक यात्रा है। इसमें पदार्थ और व्यक्ति अपने आप संयोगवश मिलते रहते हैं और बिछुड़ भी जाते हैं। अतः किसी के प्रति लगाव क्यों हो? ऐसी दृढ़ भावना मन में अंकित कर स्पृहा को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

फिर, 'निर्मम' होना चाहिए। हिन्दी में 'निर्मम' का एक अर्थ निर्दयी भी होता है। पर यहाँ उस अर्थ में यह शब्द उपयोग में नहीं लाया गया है। यहाँ उसका तात्पर्य है—ममता से रहित होना। ममत्व-बोध बन्धन का कारण होता है। ममता ही हमें जलाती है। मेरा हाथ, मेरा पैर, मेरा मुँह, मेरे अंग, मेरा पुत्र, मेरे पिता, मेरे पति, मेरी पत्नी, मेरा मकान, मेरा धन, मेरी जमीन— यह ममत्व हमें जलाता है। यदि इस सब कुछ को ईश्वर से सम्बन्धित कर दे सकें, तो वही हमें 'निर्मम' बनाता है। जीव में ममत्व जन्म के साथ पैदा होता है। हम साधना के द्वारा इस ममत्व को दूर करने का प्रयास करते हैं। ज्ञान की साधना से उसे जला डालने की चेष्टा करते हैं और भक्ति की साधना से मेरा-पन को ईश्वर के साथ संयुक्त करने की। ममता विषधर के समान है, जो अपने दंश से हमारे जीवन को विषाक्त कर देती है। ज्ञान कहता है कि इस विषधर को मार डालो। भक्ति कहती है इसके विष के दाँत उखाड़ दो। ममता को ईश्वर के साथ संयुक्त करके वास्तव में हम उसके विष के दाँत को ही उखाड़ते हैं।

फिर कहा, हमें 'निरहंकार' होना चाहिए। ममता

का त्याग कर देना, निर्मम हो जाना क्या यथेष्ट नहीं है? नहीं, निर्मम, निःस्पृह हो जाने पर भी यह भावना बनी रह सकती है कि मैं निर्मम हूँ, मैं निःस्पृह हूँ। अपने निर्मम पने का, अपने निःस्पृह और कामनाहीन होने का अहंकार मुझमें हो सकता है। जैसे बहुधा देखा जाता है, मनुष्य पुण्य तो करता है, पर पुण्याभिमान से वह ग्रस्त हो जाता है। यह पुण्याभिमान भी एक सशक्त शृंखला है, जो मनुष्य को पूरी तरह बाँध लेती है। 'विनयपत्रिका' में गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं–

करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं।
रकतबीज जिमि बाढ़त जाहीं ॥ १२८/३

–'पुण्य करने से भी पाप नष्ट नहीं होते, अपितु रक्तबीज राक्षस की तरह ये बढ़ते ही जाते हैं।' इसका अभिप्राय यही है कि पुण्य अहंकार को जन्म देते हैं और अहंकार पाप है, रक्तबीज राक्षस की तरह बढ़ता ही रहता है। दान किया तो 'मैं दानी हूँ' का अहंकार मुझ पर चढ़ बैठा। तप किया तो 'मैं तपस्वी हूँ' इस अहंकार ने मुझे धर दबोचा। सत्य बात कह दी तो 'मैं सत्यवादी हूँ' यह अहंकार मुझ पर हावी हो गया। यह अहंकार सबसे विकट शत्रु है। इससे छूटने के लिए ईश्वर के चरणों में प्रेम-भक्ति ही एकमात्र सार्थक उपाय है। वशिष्ठ जी 'रामचरितमानस' में भगवान् राम से यही कहते हैं –

जप तप नियम जोग निज धर्मा।
श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा ॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन।
जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन ॥ ७/४८/१-२

–जप, तप, नियम, योग, अपने अपने धर्म, श्रुतियों से उत्पन्न बहुत से शुभ कर्म, ज्ञान, दया, दम, तीर्थस्नान आदि जो भी धर्म के अन्तर्गत आते हैं, इनसे अहंकार नहीं धुलता – 'छूटइ

मल कि मलहि के धोएँ' (७/४८/५), क्योंकि मल को मल से नहीं धोया जा सकता। जैसे, हम कपड़े की गन्दगी साबुन से दूर करते हैं, पर साबुन भी तो मैल है, उस मैलको निर्मल जल से धोकर दूर करते हैं। उसी प्रकार ये पुण्य कर्म भी मैल हैं। यह ठीक है कि इस पुण्य-कर्मरूपी मैल द्वारा पाप-कर्मरूपी मैल धोया जाता है, पर इस पुण्य-कर्मरूपी मैल को, पुण्याभिमान को किससे धोया जाय? वसिष्ठ जी कहते हैं—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई।
अभिअन्तर मल कबहुँ न जाई॥ ७/४८/६

—हे रघुनाथजी, प्रेम-भक्तिरूपी निर्मल जल के बिना अन्तःकरण का मल कभी नहीं जाता!

तात्पर्य यह कि अहंकार को प्रेम-भक्तिरूपी निर्मल जल से धोना चाहिए। तभी व्यक्ति में निरहंकारिता आती है।

तो, प्रस्तुत श्लोक में शान्ति की प्राप्ति का उपाय बताते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं कि जो व्यक्ति समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है, सर्वत्र स्पृहा से रहित हो व्यवहार करता है, ममत्व और अहंकार की भावना को या तो ज्ञान से जला डालता है अथवा भक्ति के निर्मल जल से धो डालता है, वही शान्ति प्राप्त करता है। यहाँ पर शान्ति पाने के लिए चार शर्तें रखी गयीं – (१) समस्त कामनाओं का त्याग, (२) निःस्पृह होकर व्यवहार करना, (३) निर्मम हो जाना और (४) निरहंकार होना। ये चारों शर्तें मानो एक के बाद दूसरी सीढ़ी हैं। समस्त कामनाओं का त्याग कर देने पर भी मन में स्पृहा बनी रह सकती है। स्पृहा को दूर कर देने पर भी ममत्व बना रह सकता है। ममता को छोड़ देने पर भी अहंकार का भाव कायम रह सकता है।

इसलिए अहंकार-पर्यन्त सबको त्यागने के लिए कहा। अहंकार के रथ पर चढ़कर ही ममता, स्पृहा और कामनाओं का आक्रमण होता है। जो व्यक्ति इस रथ को नष्ट कर दे सकता है, वही शान्ति का अधिकारी होता है।

प्रश्न उठता है कि क्या देह के रहते इस अहंकार को नष्ट किया जा सकता है? श्रीरामकृष्णदेव इसका उत्तर देते हैं। वे कहते हैं – एक है कच्चा-मैं और दूसरा है पक्का-मैं। कच्चा-मैं है– 'मैं इसका पिता हूँ, इसका पति हूँ, इसका पुत्र हूँ, अमुक हूँ, तमुक हूँ, आदि।' और पक्का-मैं है– 'मैं ईश्वर का दास हूँ, उनका पुत्र हूँ, वे स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ।' यदि 'मैं' को एकदम नष्ट नहीं किया जा सकता हो, तो रहे वह– 'मैं प्रभु का दास हूँ, प्रभु का तनय हूँ, प्रभु का सेवक हूँ' यह भाव लेकर। यह पक्का-मैं है। अर्थात् सब कुछ को ईश्वर से सम्बन्धित कर देना। शान्ति पाने का यही उपाय है।

ऐसी निष्काम अवस्था, जहाँ स्पृहा, ममता और अहंकार न रह जाय, ब्राह्मी अवस्था कहलाती है। यह मानव-जीवन की परमोत्कृष्ट अवस्था है। इसका वर्णन करते हुए भगवान् कृष्ण कहते हैं

> एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
> स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

पार्थ (हे अर्जुन) एषा (यही) ब्राह्मी स्थितिः (ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति है) एनां (इस (अवस्था) को) प्राप्य (पाकर) न (नहीं) विमुह्यति (मोह-भ्रम में नहीं पड़ता) अस्यां (इस (ब्रह्मनिष्ठ अवस्था) में) अन्तकाले अपि (मृत्यु के समय भी) स्थित्वा (प्रतिष्ठित रहकर) ब्रह्म-निर्वाणं (ब्रह्म में लीनता को) ऋच्छति (प्राप्त करता है)।

"हे अर्जुन, यही ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति है। इस अवस्था को पाकर मनुष्य संसार में फिर मोह-भ्रम में नहीं पड़ता। मृत्यु के समय भी इस ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित रहकर वह ब्रह्म में लीनता को प्राप्त करता है।"

मानव-जीवन की यही सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है कि मनुष्य अपनी ब्रह्मस्वरूपता में स्थित हो जाए। तब वह और मोहित नहीं होता, अर्जुन, जैसा कि तुम हो रहे हो। तब न वह अपने स्वजनों के प्रति आसक्त होकर रोता है, न अपनी देह के प्रति आसक्त होकर डरता है। ममता हमें अपने स्वजनों के प्रति आसक्त करती है और अहंकार अपनी देह के प्रति आसक्ति को जन्म देता है। जिसने ममता और अहंकार दोनों के बन्धनों को काट दिया, उसके अन्तःकरण का मल धुल जाता है और उसकी ब्रह्म-स्वरूपता प्रकट हो जाती है। यही ब्रह्म को जानने की अवस्था है। ब्रह्म को जानना मानो ब्रह्म ही हो जाना है—'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति'।

'अन्तकालेऽपि' कहकर दो अर्थों को ध्वनित किया। एक तो यह कि एक बार यदि यह ब्राह्मी स्थिति प्राप्त हो जाय, तो वह मृत्युपर्यंत बनी रहती है। ब्राह्मी स्थिति ऐसी नहीं है कि एक बार जीवन में आकर फिर चली जाय। कर्म और ज्ञान का यही अन्तर है। कर्मानुष्ठान यावज्जीवम करना पड़ता है, पर ज्ञान यदि जीवन में एक बार आ गया, तो फिर देहपात् तक अखण्ड रूप से बना रहता है। पीतल के लोटे को चमकाने के लिए उसे प्रत्यह माँजने की आवश्यकता है, पर सोने के लोटे को चमकाने के लिए माँजने की आवश्यकता नहीं होती। वह अपनी स्वरूपभूत चमक से चमकता रहता है। इसी प्रकार एक बार भी ब्रह्मज्ञाम का संस्पर्श हो गया कि वह स्वरूपभूत बन जाता है, फिर उसमें लोप कभी

नहीं होता ।

दूसरा अर्थ यह है कि यदि आखिरी समय भी यह स्थिति प्राप्त हो जाय, तो भी उसे ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त हो जाता है । यदि पहले प्राप्त हो, तो वह जीवन्मुक्त होकर व्यवहार करता है और देह छूटने के बाद ब्रह्म में ही लीन हो जाता है । पर यदि देह छूटने के समय भी ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय, तो भी वह ब्रह्मनिर्वाण का ही अधिकारी होता है ।

यहाँ 'ब्रह्मनिर्वाण' शब्द कुछ लोगों में संशय उपस्थित करता है कि गीता ने 'निर्वाण' शब्द बौद्धों से लिया या बौद्धों ने गीता से लिया ? वैसे 'निर्वाण' शब्द का तात्पर्य बौद्धों के अनुसार 'बुझ जाना' होता है । पर यहाँ पर 'ब्रह्मनिर्वाण' का अर्थ 'ब्रह्म में बुझ जाना' या 'ब्रह्म में समाप्त हो जाना' समीचीन नहीं होगा । उसका उपयुक्त अर्थ होगा— 'ब्रह्म में लीन हो जाना' । और यह 'निर्वाण' शब्द के दूसरे अर्थ से भी ध्वनित होता है । 'वा' धातु के दो अर्थ हैं— 'वा गतिबन्धनयोः' — गति और बन्धन । 'निर्गतं वानं गमनं बन्धनं च यस्मात् तत् निर्वाणम्'—जिसमें आना-जाना या बन्धन न हो, वह निर्वाण की अवस्था है । तभी तो श्रुति कहती है— —उस अवस्था को प्राप्त करने के बाद 'न स पुनरावर्तते, न स पुनरावर्तते' — वह इस संसार में लौटकर नहीं आता, वह लौटकर नहीं आता । इसी का नाम 'कैवल्यमुक्ति' है ।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने 'प्रजहाति यदा कामान्' से स्थितप्रज्ञ के लक्षण बतलाते हुए जो चर्चा प्रारम्भ की थी, उसका वे यहाँ पर समापन करते हैं । ब्राह्मी स्थिति के विवेचन से यह भी ध्वनित होता है कि 'ब्रह्मनिर्वाण' शब्द गीता का अपना मौलिक शब्द है, उसने बौद्धों से यह

शब्द नहीं लिया, बल्कि बौद्धों ने ही ब्रह्म शब्द को हटाकर 'निर्वाण' को ले लिया।

इस तरह यह दूसरा अध्याय, जो सूत्ररूप में गीता का समूचा कथ्य प्रस्तुत कर देता है, समाप्त हुआ। अर्जुन के समक्ष भगवान् ने कर्म और ज्ञान की दो निष्ठाएँ उठायी थीं—सांख्य अर्थात् ज्ञान की चर्चा चलाकर फिर योग की चर्चा चलायी। और अन्त में स्थितप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा। इससे अर्जुन का संशय दूर हुआ या नहीं, उसे समाधान प्राप्त हुआ या नहीं, यह अगली चर्चाओं में देखने का प्रयास करेंगे।

●

मानव जन्म अतिशय पुनीत है; स्वर्ग के निवासी भी इस जन्म की आकांक्षा करते हैं, क्योंकि मनुष्यों के द्वारा ही सच्चा ज्ञान और शुद्ध प्रेम प्राप्त किया जा सकता है।

—भगवान् श्रीकृष्ण

एक सन्त से वार्तालाप

स्वामी अद्भुतानन्द के संस्मरण

(स्वामी अद्भुतानन्द श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग संन्यासी-शिष्यों में से थे, जो रामकृष्ण संघ में लाटू महाराज के नाम से परिचित हैं। उनके ये संस्मरण 'वेदान्त एण्ड दि वेस्ट' पत्रिका से साभार गृहीत एवं अनूदित है। इसका पूर्वार्द्ध पिछले अंक में प्रकाशित हुआ है। –स०)

(दो गृहस्थ भक्तों के पूछने पर कि संसार में रहने वाले लोगों के मन में इतने उतार-चढ़ाव क्यों होते रहते हैं) लाटू महाराज उत्तर देते हुए आगे कहने लगे, "तुम चाहे घर में रहो या जंगल में, भगवान् को पुकारो। अन्य सब बातें गौण हैं। तुमने उस आदमी के बारे में सुना होगा, जो समुद्र-स्नान के लिए गया, पर वहाँ जाकर सोचने लगा, 'समुद्र में लहरों का उठना बन्द हो जाय तब नहाऊँगा।" क्या तुम सोचते हो वह कभी नहा सकेगा ? समुद्र का स्वभाव ही नहीं है कि बिना लहरों के हो, तो ऐसे में उसका नहाना कभी नहीं होगा।

"तुम जहाँ भी रहो, जैसे भी रहो, मन में किसी भी प्रकार के विचार क्यों न हों, भगवान् का स्मरण करते रहो और उनमें पूरी तरह डूबने की चेष्टा करते रहो। जो इसमें सफल होगा, वह उनको पा लेगा। और जो यह सोचता है कि अपने मन की उलझनों के कारण उनमें अपना मन एकाग्र कर ही नहीं सकता, वह कभी दर्शन नहीं पा सकता। जब तक तुम्हारे पास देह है और परिवार है, तब तक रोग और उलझनें आएँगी ही। इनसे परे जाना चाहते हो, तो भगवान् को पुकारो। इसको छोड़ अन्य कोई उपाय नहीं है। जब उस

सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के दर्शन प्राप्त होते हैं, तो सब यंत्रणाएँ और उलझनें दूर हो जाती हैं।"

किसी ने सच्चिदानन्द के स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, तब महाराज बोलने लगे, "देखो, वह जो आनन्द है, वह अतुलनीय है। इस जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे उसकी दूर से भी तुलना की जा सके। वह आनन्द जो हम इन तीन अवस्थाओं —जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति— में पाते हैं, माया है। ये तीनों अवस्थाएँ माया के राज्य के अधीन हैं और उनका आनन्द भी माया की सृष्टि है। इनसे भी परे एक चतुर्थ अवस्था है, जिसे 'तुरीय' कहा जाता है। उस अवस्था में पहुँचना हँसी-खेल नहीं है। इस चतुर्थावस्था का आनन्द माया से परे की वस्तु है। तुम सब जानते हो कि माया का आनन्द कितना मधुर है, और सब जीव इसी में मुग्ध रहते हैं। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि जिसकी यह माया इतनी मोहक है, वह स्वयं कितना आनन्ददायक न होगा।"

"महाराज, इस माया को आप मधुर क्यों कहते हैं?" किसी ने कहा, "यह तो पूरी विषमय है और आदि से अन्त तक दुःख देने वाली है।"

"पर क्या तुम नहीं समझते?" लाटू महाराज ने उत्तर दिया, "माया का कड़ुवा जहर भी कइयों को मीठा लगता है। नहीं तो इस संसार की माया में भला वे क्यों शूकर और बैल की भाँति लिप्त रहते?"

एक अन्य अवसर पर महाराज ने कहा, "इस संसार में किसी भी वस्तु की यथार्थ सत्ता नहीं है। आनन्द ही इसका अनठा अपवाद है। क्या तुम जानते हो, लोग घर-सम्पत्ति, पत्नी-सन्तान किसलिए चाहते हैं? इसके लिए वे दिन-रात कठोर परिश्रम करते हैं। परन्तु इतना परिश्रम करने पर भी

उन्हें वह नहीं मिलता, जो वे चाहते हैं। पर यदि उन्होंने उतनी मेहनत भगवान्-लाभ के लिए की होती, तो उन्हें इस जगत् के बनावटी सुख की अपेक्षा यथार्थ सुख 'सच्चिदानन्द' की प्राप्ति हो जाती।"

एक बार स्वामी सिद्धानन्द के साथ वार्तालाप में लाटू महाराज ने कहा था, "इस जगत् में लोग एक चीज चाहते हैं– वह है आनन्द। परन्तु आनन्द क्या कोई पिपरमेन्ट की गोली है, जिसे तुम बच्चों को खिलौना देकर फुसलाकर ले लोगे ? तुम भगवान् को नहीं फुसला सकते। वे जीव की पहले कड़ी परीक्षा लेते हैं। उनके पास तक पहुँचने के मार्ग में कई बाधाएँ और प्रलोभन हैं। वह सीधी चढ़ाईवाली घाटी के सँकरे रास्ते-जैसा है। एक पल की लापरवाही तुम्हें हजारों फुट नीचे गिरा सकती है। तुम जो प्रत्येक कदम रखते हो, उसके साथ तुम्हें अपने इष्ट का स्मरण करना होगा। पूरी तरह से उनकी सुरक्षा पर निर्भर हो जाओ। सिर्फ इस प्रकार का ऐकान्तिक समर्पण होने पर ही तुम प्रलोभनों से बच सकने की आशा कर सकते हो। यदि हम अपनी सतत विवेकपूर्ण दृष्टि में चूक जायँ और प्रभु की इच्छा पर भी पूरी तरह से समर्पित न हो सकें, तो हम कभी भी वासनाओं और कामनाओं से मुक्त नहीं हो सकते।

"वैकुण्ठ के द्वार उसके लिए खुले हैं, जो कामनाशून्य हो गया है। वह आनन्द से नाचता हुआ वैकुण्ठ में प्रवेश करता है। इसके सम्बन्ध में ही वैष्णव लोग कहते है, 'वही वास्तव में चतुर है, जो भगवान् कृष्ण की शरण लेता है।' यह कितना सच है ! जो सचमुच ही 'चतुर' हैं, जो लोक और परलोक दोनों में ही शान्ति और आनन्द पाना चाहते हैं, व भगवान् को ही अपने जीवन का केन्द्र बनाते हैं। और

वे लोग जो भगवान् को भुला देते हैं, निराशा और कटुता का अनुभव करते रहते हैं।"

एक अन्य अवसर पर किसी ने कहा कि भगवान् बड़ा कठोर परिश्रम करवाते हैं और लोगों से कठिन मेहनत करवाने के बाद उन पर कृपा करते हैं। मानो इसका उत्तर देते हुए महाराज ने कहा, "चलो, यहाँ हम तुम्हारे ही बारे में सोचें। तुम लगभग अढ़ाई सौ रुपये महीने की तनख्वाह पाते हो, है न? अब मुझे बतलाओ कि इसको पाने के लिए तुम्हें कितने वर्षों तक कड़ी मेहनत करनी पड़ी है? पाँच वर्ष की आयु से तुम स्कूल में भरती हुए थे, कई परीक्षाएँ तुमने पास की हैं, उसके बाद कई लोगों को खुश करके यह नौकरी पायी होगी और उसके बाद भी अपने वरिष्ठ अधिकारियों को तरक्की पाने के लिए खुश किया होगा। अब देखो इस दो सौ पचास रुपये की छोटी आय कमाने के लिए तुम्हें कितनी गुलामी करनी पड़ी है।

"दूसरी तरफ देखो, कई ऐसे लोग हैं जिन्होंने इतनी कड़ी मेहनत नहीं की और जिनके पास कोई डिग्री नहीं है। उतनी कड़ी मेहनत नहीं कर पाने के फलस्वरूप वे अच्छी आय कमा सकने में असमर्थ हैं। उसी प्रकार, जो भगवान् को चाहते हैं, उन्हें अपने 'पाँचवें वर्ष' से उसी प्रकार कड़ी मेहनत करनी होगी, जैसी कि तुमने की है। और तभी वे उन्हें पा सकते हैं। जब तक उनके प्रति सच्चा आकर्षण न हो, तब तक कोई उन्हें कैसे पा सकता है?"

एक बार लाटू महाराज ने मालदा के एक शिक्षक से कहा था, "शशधर, क्या तुम मुझे बता सकते हो कि एक जीवाणु से लेकर मनुष्य तक सभी प्राणी इतने अनवरत रूप से क्या खोज रहे हैं? ——आनन्द! इस आनन्द के एक-आध

छींटे के लिए– जान लो यथार्थ आनन्द के लिए नहीं, इस नकली आनन्द के एक-आध छींटे के लिए– सभी प्राणी माया के, अविद्या के बन्धन में फँसने के लिए बढ़े जा रहे हैं। वे तालाब के कीटाणुओं से भरे पानी को पीकर भुगतते हैं और रोते हैं, फिर भी उनकी आँखें नहीं खुलतीं। आनन्द की एक बूँद के लिए आदमी अपने जीवन को जला डालता है। कष्टों की मार पड़ने पर भी वह संसार और सांसारिकता से चिपटा रहता है।"

स्वामी अद्‌भुतानन्द ने एक बार एक भक्त को रात्रि में अपने पास रहने के लिए कहा। गर्मी के दिन थे। गर्मी के कारण अन्दर सोना मुश्किल था। इसलिए बहुत से लोग छत पर सोये थे। लाटू महाराज का स्वभाव था कि बाहर सोने वालों को वे रात्रि में जप-ध्यान करने के लिए उठा देते थे। भक्त भी उन लोगों में था। उसने अपने 'नोट्स' में लिखा –"मैंने अपने मन को एकाग्र करने की बहुत चेष्टा की, पर जब बार बार असफल रहा, तब अन्त में निराश हो अपना आसन छोड़कर उठ गया। लाटू महाराज ने मुझे देखा और कहा, 'यदि ध्यान न लग सके और बेचैन हो जाओ, तो एकदम ध्यान छोड़कर नहीं उठना चाहिए। यदि बेचैनी लेकर तुम ध्यान से उठ गये, तो पूरे दिन यह बेचैनी तुम्हारा पीछा करेगी। तुम्हें लगेगा कि किसी को पीट दूँ या डाँट दूँ या कठोर शब्दों में गाली दे दूँ। ठाकुर कहा करते थे– मेरे बच्चो, ध्यान का आसन एकदम मत छोड़ा करो। या तो कोई भक्तिपूर्ण भजन दस पन्द्रह मिनट के लिए गाओ अथवा किसी सन्त-महापुरुष या अवतार के जीवन की किसी लीला का चिन्तन करो। तब तुम दिन भर शान्तचित्त बने रहोगे'।"

एक अन्य अवसर पर नरक और स्वर्ग की बात

चल पड़ी। लाटू महाराज बोले, "परलोक के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह मत करो। मृत्यु के बाद जैसे काल रहता है, वैसे ही देश भी रहता है। यदि कोई इस स्थूल देह के ऊपर की अवस्था में रह सके, तब उस अवस्था में भी काल और देश रहेगा।"

"ये स्वर्ग और नरक कहाँ हैं ?" किसी ने कहा, "यहीं पृथ्वी पर ही तो पर्याप्त स्वर्ग-नरक हैं।"

"हाँ," लाटू महाराज ने उत्तर दिया, "यह सच है कि यहाँ पृथ्वी पर ही अनेक स्वर्ग और नरक हैं, जिस अर्थ में तुमने कहा है। पर पृथ्वी के पार भी अनेक दूसरे लोक हैं। यहाँ धर्म के क्षेत्र की बातों में विश्वास करना होगा। हम स्वर्ग और नरक तो नहीं दिखा सकते; जो धर्मशास्त्र कहते हैं, उन पर विश्वास मात्र कर सकते हैं। जो भी हो, वे वास्तविक हैं, न कि काल्पनिक।"

एक भक्त की एक बार किसी स्वामीजी के सेवक से कहा-सुनी हो गयी और वह स्वामी सारदानन्दजी के पास उसकी शिकायत करने पहुँचा। सारदानन्दजी ने उसे शान्त किया और लाटू महाराज के पास भेज दिया। महाराज ने उसे एक कहानी सुनायी :—

एक बार एक व्यक्ति ने संसार की सभी समस्याओं को सुलझाने में अपने को असमर्थ पा, संसार को त्यागने की सोची। वह जब इस प्रकार जा रहा था, तब मार्ग में एक साधु मिल गये। वह उनके समीप गया और प्रार्थना की, "महाराज, कृपया मुझे अपना शिष्य बना लें।"

साधु महाराज ने कहा, "बच्चा, शिष्य को बहुत काम करने पड़ते हैं। जैसे कि पानी खींचकर लाना, लकड़ी इकट्ठा करना, भिक्षा माँग लाना, भोजन बनाना, बर्तन साफ

करना, इत्यादि । इसके साथ ही, काफी रात तक जप-ध्यान करना पड़ता है। क्या तुम सोचते हो कि इतना कठिन श्रम कर सकोगे ? यदि हाँ, तो तुम मेरे शिष्य बन सकते हो।"

उस आदमी ने साधु ने जो कहा था, उस पर गम्भीरता से विचार किया। उसने अनुभव किया कि साधु के रूप में उसे एक गृहस्थ की अपेक्षा कहीं अधिक परिश्रम करना होगा। इसलिए वह वापस लौट गया।"

लाटू महाराज ने अन्य एक अवसर पर कहा था, "शिष्य होना कोई आसान बात नहीं है। भाई विवेकानन्द ने एक बार एक शिष्य से कहा था, 'यदि मैं तुम्हें आसाम के चाय-बागान में कुली के रूप में बेच दूँ, तब भी तुम्हारे मुख में कोई बुदबुदाहट नहीं होनी चाहिए।'

"ठाकुर कहा करते थे, 'गुरु तो लाखों मिल जाएँगे, पर शिष्य इक्के-दुक्के ही मिलेंगे।'

"और संन्यासी-शिष्यों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था, 'केवल वही संन्यासी होने योग्य है, जो अपने को गुरु के आदेश पर ऊँचे खजूर के वृक्ष से हाथ-पैर फैलाए सिर के बल नीचे फेंक सकता है। कहना होगा कि ऐसे ही मनुष्य में ईश्वर और गुरु के प्रति सच्ची निर्भरता उत्पन्न हुई है।"

२८ दिसम्बर, १९०९ को स्वामी अद्वैतानन्दजी का शरीर शान्त हुआ। उस सारे दिन लाटू महाराज ने उनके सम्बन्ध में छोड़ अन्य कुछ चर्चा नहीं की। "यदि वे न होते," उन्होंने कहा, "तो हम मठ के साधु लोगों को चावल के साथ तरकारी खाने को मिलती। कितनी मेहनत और धीरज के साथ उन्होंने मठ-प्रांगण में सब्जियाँ बोयी थीं। उनकी लगन का पता उनकी जप करने की साधना से भी लगता था। और ये नये लोग कुछ दिन माला फेरते ही तात्कालिक

कुछ फल न पा उसे छोड़ देते हैं। पर हमारे गोपाल दादा अपने जीवन के अन्तिम दिन तक जप करते रहे, उससे कभी विरत नहीं हुए। उनकी लगन अनुकरणीय थी। राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्दजी) की भी ऐसी धारणा है।"

मद्रास से शशी महाराज (स्वामी रामकृष्णानन्दजी) के आने पर प्रायः रोज ही लाटू महाराज उनके पास जाते थे। यदि कभी वे नहीं जा पाते, तो उनकी तबीयत का हाल पूछने किसी को भेजते। उनके सम्बन्ध में चर्चा करते समय लाटू महाराज प्रायः भाव-विभोर हो उठते। एक दिन दृढ़ विश्वास के साथ उन्होंने कहा, "यदि कोई शशी महाराज की सेवा करता है, तो उसे वही फल मिलेगा, जो ठाकुर की सेवा करने से मिलता।"

२१ अगस्त, १९११ को शशी महाराज ने लीला-संवरण किया। लाटू महाराज अत्यन्त भावविह्वल हो उनकी चर्चा करने लगे, "जानते हो, राखाल महाराज की सेवा करने में शशी महाराज कभी किसी प्रकार की कमी नहीं रहने देते थे। वे मुक्त हस्त हो खर्चा करते। राखाल महाराज से ही मैंने सुना है कि शशी महाराज और मद्रास के भक्तजन सब समय उनको सर्वोच्च सम्मान देने एवं उनकी सुविधा की व्यवस्था करने के लिए तत्पर रहते। वे लोग उन्हें सदा प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बिठाते। राखाल भाई इस अनावश्यक खर्च के लिए मना भी करते पर शशी नहीं मानते। वे कहते, 'आप हमारे राजा हैं, इसलिए आपको इस प्रकार का शाही सम्मान स्वीकार करना ही पड़ेगा।' शशी का आदर-भाव स्वामी जी (स्वामी विवेकानन्द) के बाद ही राखाल महाराज के प्रति दूसरे क्रम पर था।"

रामकृष्णानन्दजी के देह-त्याग के उपरान्त लाटू

महाराज अपने शेष जीवन पर्यन्त बनारस में जाकर रहने की बात कहने लगे। उन्होंने गिरीश घोष के पास अपनी ऐसी इच्छा प्रकट की। गिरीश बाबू बोले, "ओ महात्माजी! आप कलकत्ता छोड़कर भागना चाहते हो? पर आपको जाने कौन देगा?" लाटू महाराज ने तब उस समय वह विचार छोड़ दिया, पर १९१२ में गिरीश बाबू की मृत्यु के बाद फिर वैसा सोचने लगे।

गिरीश बाबू की बीमारी के समय लाटू महाराज ने उन्हें देखने जाने से इन्कार कर दिया। यहाँ तक कि जब गिरीश बाबू ने स्वयं लाटू महाराज को आने के लिए प्रार्थना भेजी, तब भी उन्होंने इन्कार कर दिया। उनके इस प्रकार इन्कार करने पर चकित हो एक भक्त ने इसका कारण पूछ लिया, तो वे बोले, "उनकी भयानक यंत्रणा को मैं नहीं देख सकता।" कितना गहरा प्रेम था उनका गिरीश घोष के प्रति! यद्यपि खुद उनके पास न जाते पर उनके स्वास्थ्य की खबर सुबहशाम जरूर लेते।

जिस दिन गिरीश बाबू का देहावसान हुआ, उस दिन लाटू महाराज सारे दिन मौन धारण किये रहे। कोई भी उसको भंग नहीं कर सका। पर उसके दूसरे दिन वे प्रायः लगातार गिरीश बाबू के बारे में ही चर्चा करते रहे।

"गिरीश बाबू ने जब कुछ दिनों से ही श्रीरामकृष्णदेव के पास आना प्रारम्भ किया था, तब एक दिन की बात है," लाटू महाराज बतलाने लगे, "तब तक ठाकुर के प्रति उनकी विशेष श्रद्धा नहीं जागी थी। ठाकुर ने उन्हें अपने चरण दबाने के लिए कहा। पर गिरीश बाबू ने इन्कार कर दिया। बहुत बाद में, जाने कैसे गिरीश बाबू के अन्दर ठाकुर की उस प्रकार सेवा करने की इच्छा बलवती हो उठी।

पर अब वे अवसर चूक गये थे। ठाकुर ने महासमाधि ले ली थी। गिरीश बाबू के अन्दर इस बात का बहुत क्षोभ बना रहा। तब अकस्मात् एक दिन कलकत्ता छोड़ कामारपुकुर में जाकर सात महीने वहाँ रहे। प्रतिदिन सन्ध्या समय वे उस कमरे में बैठे रहते, जहाँ ठाकुर सोया करते थे और आस लगाये रहते कि ठाकुर उन्हें एक बार फिर से कहेंगे ... सात महीनों के बाद वे कलकत्ता वापस लौटे थे।

"एक दिन ठाकुर ने गिरीश बाबू से कहा, 'यदि कोई गंगाजी के किनारे अपने पापों को स्वीकार कर ले, तो उन पापों को क्षमा कर दिया जायगा।' गिरीश बाबू का इस बात पर पक्का विश्वास था। उसके बाद से वे गंगाजी के पास जाकर अपने पापों को कबूल कर लेते। यदि कभी नहीं जा पाते, तो गंगाजी की दिशा में मुख कर लेते। इसने उन्हें बाद में कितना पवित्र और सन्त बना दिया!

"एक अन्य अवसर पर," लाटू महाराज आगे बतलाने लगे, "एक ब्रह्मचारी गिरीश बाबू से बातचीत में कहने लगे, 'निस्सन्देह ठाकुरजी ने सिर्फ आपके जीवन का समस्त भार ले लिया है और अन्य किसी का नहीं।'

"गिरीश बाबु ने बीच में उनकी बात काटते हुए कहा, 'कभी ऐसा मत कहो। उन्होंने केवल एक गिरीश का ही 'बकलमा' (Power of attorney) नहीं लिया है, वरन कितने सारे गिरीशों का। एक पल में वे लाखों-करोड़ों गिरीशों को मुक्ति दे सकते हैं।"

x x x

स्वामी अद्भुतानन्दजी ने एक भक्त को एक बार समझाते हुए कहा था, "थियेटर ज्यादा मत जाया करो। मैं यह नहीं कहता कि तुम उससे कुछ सीख नहीं सकते, पर

अभी तुममें पर्याप्त विवेक-बुद्धि नहीं जाग्रत हुई है। तुममें अभी उतनी मानसिक शक्ति नहीं है कि आनेवाले प्रलोभनों को तुम जीत सको। इतना जान रखो कि मनुष्य का मन इतना छली है कि भले उसे कितना ही सिखाओ-पढ़ाओ, पर प्रलोभन आने पर वह सब सिखाया-पढ़ाया भूल जाता है। अभी तुम युवक हो। जितना बन सके प्रलोभनों से दूर रहने की चेष्टा करो।"

एक अन्य से उन्होंने कहा था, "देखो, अभी तुम्हारे पास धन है और अच्छी सेहत है, इसलिए तुम भगवान् को भूल गये हो। पर उस दिन के सम्बन्ध में कभी सोचते हो, जब यह यौवन और धन न होगा? अभी युवक हो इसलिए किसी का कहा नहीं मानते, पर बाद में याद रखो कहीं पछताना न पड़े।"

x x x

एक दिन एक भक्त लाटू महाराज के दर्शन के लिए आया, वह वर्षा में पूरी तरह से भींग गया था। उसके भीतर आते ही लाटू महाराज ने उसे बगल के कमरे से सूखा कपड़ा ले कपड़े बदल लेने के लिए कहा। भक्त उनका आदेश पा बगल के कमरे में गया, पर वहाँ संन्यासियों वाले गेरुए कपड़े ही देख उनको पहनने में संकोच करने लगा। लाटू महाराज बोले, "अरे, यदि तुम बीमार पड़ गये, तो अपने काम में कैसे जाओगे, फिर पैसा कहाँ से पाओगे? इससे तुम्हें अनावश्यक कष्ट होगा। इसलिए मेरी बात मानने में कोई सोच न करो।" पर तब भी भक्त की हिम्मत न पड़ी, इस पर लाटू महाराज ने झिड़कते हुए कहा, "यदि तुम मेरी यह प्यार से कही बात नहीं मानोगे, तो बाद में पछताना पड़ेगा।" तब कहीं उस भक्त ने वे कपड़े पहने और पूरे दिन पहने रहा।

x x x

यदि कभी कोई गलत काम करके लाटू महाराज के पास आता, तो वे उसके बिना बतलाये ही वह जान जाते थे। पर उसे दुतकारते नहीं थे, वरन् भविष्य में उसे फिर से न दुहराने के लिए कहते और नेक सलाह देते। वे यह सब इतने प्रेम और करुणा से कहते कि सम्बन्धित व्यक्ति अपने भीतर साहस और सामर्थ्य का अनुभव करने लगता। वे कहा करते, "सांसारिक क्रियाकलाप मनुष्य की बाहरी सतह भर को प्रभावित करते हैं, उसके भीतर के वास्तविक स्वरूप को नहीं।"

x x x

अक्तूबर, १९१२ में स्वामी अद्भुतानन्दजी कलकत्ते के बलराम बोस वाले मकान को हमेशा के लिए छोड़ बनारस चले गये। मकान छोड़ते समय उन्होंने उसकी तरफ एक बार ताका और बोल उठे, "माया, माया, माया।" नीचे झुककर उन्होंने नमन किया और गाड़ी में बैठ गये।

स्टेशन पर एक भक्त से उनकी भेंट हुई, जो उनसे बिछुड़ने के विचार से अत्यधिक उदास था। लाटू महाराज ढाढ़स बँधाते हुए कहने लगे, "बच्चा, इधर देखो। मेरे जाने से दुःखी मत होओ। यहाँ माँ गंगा बह रही हैं। वे दुःखी और पतित जनों को तारनेवाली हैं। उनके किनारे जितना हो सके बैठना। कहा जाता है कि सत्संग से पवित्रता आती है, उसी प्रकार माँ गंगा के सामीप्य से भी होता है। प्रार्थना करना और भगवान् का नाम जपना। देखोगे कि तुम्हारी देह और मन सब पवित्र हो रहा है। जब भी मन में उदासी आये, चुपचाप वहाँ जाकर बैठना और देखोगे कि तुम्हारा मन तथा हृदय शान्त हो गया है। गंगा की लहरें देखते रहने से अनजाने ही मन की उद्विग्नता दूर हो जायगी।"

x x x

बनारस में लाटू महाराज के सात वर्षों तक रहते समय विभूति नाम के एक भक्त ने उनका सान्निध्य-लाभ प्राप्त किया था। स्वामीजी के साथ हुए अपने अनुभवों को वे कभी कभी लिखकर रख लिया करते थे। एक समय उन्होंने लिखा है :– "एक बार लाटू महाराज ने माँ (सारदा देवी) के प्रति ऊपरी अश्रद्धा दिखलाते हुए कुछ कहा। हम सब वह सुन स्तम्भित रह गये। कोई भी ऐसा नहीं सोच सकता था कि जिनकी उन्होंने इतने वर्षों तक इतनी लगन के साथ सेवा की है, उनके प्रति ही उनकी इतनी कम श्रद्धा है। पर यह हम लोगों को बाद में ही पता लगा कि लाटू महाराज माँ के प्रति अपनी गहरी श्रद्धा के भाव को छुपाने के लिए ही वैसा कह रहे थे।

"एक दिन कुछ पुष्प एवं बिल्व पत्र ले वे विश्वनाथजी की पूजा करने के निमित्त निकले। पर मुख्य सड़क पर पहुँच अचानक कहने लगे, "चलो, पहले माँ के पास चलें।' हम क्या कह सकते थे ? सब लोग मुड़कर किरण के घर की तरफ चले, जहाँ उस समय माँ ठहरी हुई थीं। लाटू महाराज सीधे सीढ़ी से चढ़कर माँ के कमरे में पहुचे। माँ के पास पहुँचते ही वे एकदम बदल गये। उनका सर्वांग पुलकित हो गया और उन्होंने समस्त पुष्प एवं बिल्वपत्र माँ के चरणों में चढ़ा दिये तथा उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु की धारा बहने लगी। माँ भी अपनी इस प्रिय सन्तान के सिर पर धीरे धीरे हाथ फेरने लगीं। हृदय को आलोड़ित कर देनेवाला क्या ही अद्भुत दृश्य था वह !

x x x

बनारस में रहते समय लाटू महाराज प्रायः इतने अधिक ध्यान में डूबे रहते कि खाने-पीने का उनका कोई निश्चित समय नहीं होता। बिहारी ने लिखा है : "उनके

जीवन में भोजन का जहाँ तक सवाल है, कोई निश्चित दिन-चर्या नहीं होती थी। यदि आज दस बजे खाया हो तो कल आधी रात हो सकती है और परसों सुबह के चार भी बज सकते हैं। इसका कोई निश्चित समय नहीं होता। उनके सेवक को सदा तैयार रहना पड़ता, क्योंकि ध्यान से उठने के बाद ही महाराज भोजन बनाने के लिए आदेश देते।"

इसी समय की बात है, जब एक भक्त ने उनको कठोर तपस्या करते देखा, तो पूछा, "महाराज, आपने तो श्रीरामकृष्णदेव को देखा है, उनकी बहुत दिनों तक सेवा भी की थी। बाद में गंगाजी के किनारे कई वर्षों तक कठोर साधनाएँ की हैं। फिर इस वृद्धावस्था में ऐसी कठोर तपस्या क्यों कर रहे हैं ?

लाटू महाराज ने उत्तर दिया, "जानते हो, केवल उनको देखना और उनकी सेवा करना ही परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यथेष्ट नहीं है। वह इतनी आसान नहीं है। साधना करना भी जरूरी है, तब कहीं उनकी कृपा से सत्य के साक्षात्कार होते हैं। परन्तु बिना आध्यात्मिक साधना के उनकी कृपा नहीं प्राप्त होगी। कृपा का एक कण पाने के लिए भी कड़ी मेहनत करनी होगी। और उस कृपा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए भी हम लोगों को सतत प्रयास करते रहना होगा, नहीं तो वह प्रभावी नहीं होगी। ऐसा मत सोचो कि उनकी कृपा मिलते ही साधनाओं की इति हो गयी! पर उनकी कृपा अनन्त है, कोई नहीं जान सकता कि क्या क्या अनुभूति वे करा दे सकते हैं।"

लाटू महाराज के जीवन में श्रीरामकृष्णदेव की कृपा का भरपूर योगदान था इसमें कोई सन्देह नहीं। उनके गुरु-भाई लोग, जिन्होंने लाटू महाराज को कठोर तपस्या

करते देखा था, विशेषकर १८८६ में श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण के बाद से १८९६ तक, वे भी इस बात को स्वीकार करते हैं। उनके सम्बन्ध में एक बार स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा था: "लाटू ने जिस प्रकार की पारिपार्श्विक अवस्था से आकर अल्प दिनों में ही आध्यात्मिक जगत् में जितनी उन्नति प्राप्त की है तथा हम लोगों ने जिस अवस्था से जितनी उन्नति लाभ की है, उन दोनों की तुलना करने पर वह हम लोगों की अपेक्षा बहुत महान् है। हम लोगों का जन्म उच्च वर्ण में हुआ है। पढ़-लिखकर कुछ सीखकर तथा मार्जित बुद्धि लेकर हम श्रीठाकुर के समीप आये थे, किन्तु लाटू सम्पूर्ण निरक्षर है। हम लोगों को कभी ध्यान-धारणा अच्छी न लगने पर पठन-पाठन से मन के उस भाव को दूर कर लेते थे। किंतु लाटू को अन्य अवलम्बन नहीं था। उसको मात्र एक ही भाव लेकर चलना पड़ा है। एकमात्र ध्यान और धारणा की सहायता से लाटू अपने मस्तिष्क को ठीक रखते हुए अति निम्न अवस्था से उच्चतम आध्यात्मिक सम्पदा का अधिकारी हुआ है। इसी से उसकी अन्तर्निहित शक्ति का तथा उसके प्रति श्रीठाकुर की अशेष कृपा का परिचय मिलता है।"

x x x

साधारणतया ऐसा सोचा जाता है कि आध्यात्मिक साधनाओं की समाप्ति समाधि में होती है, परन्तु साधकों को प्रतिदिन की साधना में इस प्रकार का अनुभव नहीं होता। लाटू महाराज ने एक बार बतलाया था, "क्या समाधि इतनी आसान वस्तु है ? जप-ध्यान, प्रार्थना आदि द्वारा बहुत साधना करने पर तब कहीं भगवान् के चरणों में अनुराग होता है। उससे भी अधिक साधना करने पर कहीं भगवान् के भाव और ऐश्वर्य की एक झलक मिलती है।

वे तो अनन्त भाव और ऐश्वर्य सम्पन्न हैं। पर उसके भी परे जाना होता है। यद्यपि लाखों-करोड़ों जन्म हम ले लें, फिर भी भगवान् के असीम भावों और अनन्त ऐश्वर्यों को नहीं समझ सकते। पर वे इन सबके परे हैं। ये सब उनके वस्त्राभरण एवं आभूषणों जैसे हैं। वे इस सबके अत्यन्त परे हैं। इन अभिव्यक्तियों के परे जाना कोई आसान काम नहीं है क्योंकि ये सब अद्भुत तथा मधुर होते हैं। इसीलिए मनुष्य के लिए इनके परे जाकर अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना प्रायः असम्भव सा होता है।"

उन्होंने आगे कहा, "यदि भगवान् की कृपा किसी पर होती है और यदि वे चाहते हैं कि वह उन्हें जिस प्रकार वे हैं वैसा ही देखे, तब भगवान् उस साधक के मन और बुद्धि, जो कि समाधि के लिए सबसे बड़े व्यवधान हैं, का विलय करने में सहायता करते हैं। सिर्फ पुरुषार्थ से इन दोनों व्यवधानों को दूर नहीं किया जा सकता। कुछ स्तर तक तो साधना आवश्यक है, पर उसके बाद भगवत्कृपा ही एकमात्र सहारा है। जब मन और बुद्धि अपना कार्य करना बन्द कर देते हैं, तब वह भाग्यशाली साधक समाधि प्राप्त करता है। इसे याद रखना!"

उनके इस कथन से उपस्थित एक सज्जन ने चौंकते हुए पूछा, "पर महाराज, हमने सुना है कि एकमात्र पुरुषार्थ द्वारा -- मन के ध्यान-धारणा द्वारा -- समाधि प्राप्त होती है?"

"तुमने जो सुना है वह गलत नहीं है," लाटू महाराज ने उत्तर दिया। "परन्तु जो समाधि मन के ध्यान लगाने से प्राप्त होती है, ठाकुर उसे चेतन समाधि कहा करते थे। उस समाधि में भगवान् के भावों और ऐश्वर्यों का आनन्द-

रूनी खेल होता रहता है, परन्तु ठाकुर एक अन्य प्रकार की समाधि की भी बात कहते थे, जिसमें मन का विलय हो जाता है और अहंकार सम्पूर्णतया लुप्त हो जाता है। मैं यह सच कह रहा हूँ, कोई भी उस समाधि को बिना भगवत्कृपा के नहीं प्राप्त कर सकता।"

"पर क्या यह सच नहीं है कि लक्ष्य तक पहुँचने के लिए पुरुषार्थ आवश्यक है ?" एक भक्त ने पूछा।

"ऐसा हो सकता है। एक लक्ष्य मिलता है,-- पर क्या वही परम लक्ष्य है अधिकांश लोग इन्हीं दैवी अभिव्यक्तियों को ही लक्ष्य मान लेते हैं। पर इनके परे भी एक समाधि है-- वह अन्य प्रकार की है। जिन्होंने पहले प्रकार की समाधि का अनुभव किया है, वे प्रायः उस ऐश्वर्य और आश्चर्य में ही डूबे रह जाते हैं, लेकिन यह दूसरे प्रकार की उच्चतर समाधि साधक के बिना प्रयास किये ही उसे स्वयं भगवान् के पास पहुँचा देती है। उस समाधि-लाभ के बाद साधक के जीवन में आमूल परिवर्तन हो जाता है। उसका क्षुद्र अहं नष्ट हो जाता है। उस समाधि को -- यहाँ तक कि उसका संकेत भी -- शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। हम ईश्वर की शक्ति और ऐश्वर्य का गुण-गान कर सकते हैं, जो कि असीम और अनन्त है, पर उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह उन सबके परे है। भले ही उसकी शक्ति और ऐश्वर्य को कुछ कुछ समझ सकना साधक के लिए सम्भव है, पर उसके स्वभाव के एक क्षुद्रांश को भी वह नहीं समझ सकता।"

x x x

इसी प्रसंग में लाटू महाराज आगे कहने लगे, "सन्तोष और तृप्ति आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा है, इनसे प्रगति रुक जाती है।"

"पर क्या यह सच नहीं है कि आखिर यह सब तपस्या शान्ति पाने के लिये होती है ?" एक भक्त ने पूछा। "फिर भी आप कह रहे हैं कि शान्ति आध्यात्मिक प्रगति में बाधक है।"

"हाँ, यह सच है कि ऐसी सब तपस्या शान्ति की प्राप्ति के लिए होती है," स्वामीजी ने उत्तर दिया, "पर याद रखो शान्ति तभी प्राप्त होगी जब सब कामनाएँ मिट गयी हों, और यदि कामना न हो तो ऊँची अनुभूति पाने के लिए फिर कौन प्रेरित करेगा ?"

"आपके कहने का क्या यह तात्पर्य है कि ऊँची अनुभूतियाँ शान्ति के परे हैं ?"

"बिल्कुल ठीक। शान्ति-प्राप्ति के बाद भी अनगिनत वस्तुएँ हैं। परन्तु उन्हें पाने के पहले शान्ति प्राप्त करनी होगी। शान्ति का स्वभाव क्या है ? अपने भीतर में आत्म-तृप्ति का बोध होना। तब कष्ट और चिन्ताएँ मन पर अपना प्रभाव नहीं डालते। पर जब उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूतियों का द्वार खोल दिया जाता है, तब एक अन्य प्रकार की अतृप्ति का भाव हृदय में उठने लगता है। यह बिल्कुल अन्य प्रकार का है, उसे मैं तुम लोगों को नहीं समझा सकूँगा। उस समय साधक अपने पुरुषार्थ की असमर्थता का अनुभव करने लगता है।"

"महाराज, इसे थोड़ा और स्पष्ट समझाएँगे ?"

"बिना कुछ साधना के ये सब बातें रहस्यमय ही बनी रहेंगी। मुझे भय है कि तुम लोगों की आध्यात्मिक साधना इतनी अपर्याप्त हैं कि इसे समझ नहीं सकोगे। भले ही मैं हजार बार समझाने की कोशिश करूँ, फिर भी ये बातें अस्पष्ट ही रहेंगी।"

x x x

स्वामी अद्भुतानन्दजी ने जैसी कठोर और कष्टप्रद साधनाएँ की थीं, उनसे उनके गुरुभाई अच्छी तरह परिचित थे। स्वामी रामकृष्णानन्दजी ने बतलाया था: "प्राय: ऐसा होता था जब हम लोगों को लाटू को बार बार पुकारना होता, जिससे उसमें बाह्य ज्ञान जागे, और तब उसके मुख में थोड़ा बहुत भोजन ठूँस देना पड़ता। कई बार कई दिन बीत जाते, फिर भी उसे बार बार पुकारने, पर कोई जवाब न मिलता। तब हम लोग उसके कमरे में खाने का सामान छोड़ चले जाते। दोपहर बीत जाती, शाम भी हो जाती; अन्त में रात को हम लोग उसके कमरे में देखते तो वह सामान वैसा का वैसा ही मिलता। लाटू उसी एक दशा में मोटी चादर ओढ़े लेटा मिलता। हम लोगों को अनेक प्रयास करने पड़ते, जिससे थोड़ा कुछ खाना उसके गले के नीचे उतार सकें।"

x x x

लाटू महाराज एक बार कहने लगे, "भगवान् का खेल भी इतना अद्भुत है कि यदि कोई आध्यात्मिक रूप से मुक्त भी हो गया हो तो भी कई बार भगवान् उसे नहीं छोड़ते। शुरू से उसे फिर आरम्भ करना पड़ता है। जैसे नदी। क्या सागर से मिलन के बाद उसका अस्तित्व शेष हो जाता है? वैसे ही क्या सागर का जल सूर्य के ताप से बादल बन फिर पृथ्वी पर नहीं लौट आता? आध्यात्मिक साधनाएँ भी उसी प्रकार होती हैं। यदि भक्त एक बार भगवान् को पा ले, उसके बाद भी भगवान् चाहें तो लुका-छिपी खेल के समान उसके साथ क्रीड़ा का आनन्द लेते रहते हैं। पर साधक कभी ऊबता नहीं है। नित नवीन, मधुर एवं अद्भुत अनुभव उसे मिलते रहते हैं। इसीलिए साधना अनन्त है, क्योंकि उसकी प्रेरणाशक्ति ही अनन्त है।"

(क्रमश:)

●